रचना और आलोचना

रचना और आलोचना

लेखक
डॉ. कमलाकान्त पाठक

कमल प्रकाशन
इन्दौर : उज्जैन

प्रकाशक—
कमल प्रकाशन,
४३३, महात्मा गांधी मार्ग,
इन्दौर-२

प्रथम संस्करण
मूल्य रु. ६·००

मुद्रक : माडर्न प्रिन्टरी लि., इन्दौर
कम्पोज : जी. के. प्रिण्टर्स, इन्दौर

स्वर्गीय दादा श्री माखनलाल चतुर्वेदी

को

प्रकाशक—
कमल प्रकाशन,
४३३, महात्मा गांधी मार्ग,
इन्दौर-२

प्रथम संस्करण
मूल्य रु. ६·००

मुद्रक : माडर्न प्रिन्टरी लि., इन्दौर
कम्पोज : जी. के. प्रिन्टर्स, इन्दौर

स्वर्गीय दादा श्री माखनलाल चतुर्वेदी

को

स्वर्गीय दादा श्री माखनलाल चतुर्वेदी
को

प्राक्कथन

मैं चाहता था कि अपनी निबन्ध-पुस्तकों का व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण करता रहूँ, पर इस कार्य में अपने को अब तक ठीक-ठिकाने लगा तक नहीं पाया हूँ। मेरे उन निबन्धों की संख्या भी प्रायः डेढ़ सौ है, जो पत्र-पत्रिकाओं और संग्रह-ग्रंथों में समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं। उन्हें पुस्तकाकार छपवा देना आवश्यक अवश्य था, पर इस समय तक अधिकांश सामग्री जहाँ-तहाँ बिखरी हुई है। लेखक बन जाने तथा कतिपय पुस्तकों के प्रकाशित हो जाने पर भी यह स्वीकार करता हूँ कि मैंने लेखकीय व्यवसाय के इस पक्ष को पर्याप्त महत्व नहीं दिया। फलतः मेरी अपनी हानि ही अधिक हुई, साहित्य-प्रेमियों की उतनी नहीं।

फिलहाल मैं रचना और आलोचना के अन्तरावलम्बन की खोजबीन कर रहा हूँ। इस परस्पराश्रय को आधुनिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करने का प्रस्तावित कार्य अभी अपूर्ण है। साहित्य-चिन्तन के इस क्षेत्र में प्रवेश करने के पश्चात् मैंने जो आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं, उनमें वैचारिक तथा विषय-संबंधी एकसूत्रता का सन्निवेश स्वभावतः हो सका है। उन्हीं में से कुछ निबन्धों को एकत्र करने का यहाँ प्रयास हुआ है।

इस निबन्ध-पुस्तक में रचना और आलोचना को पृथक् करने का कोई आयास नहीं है। उन्हें समीपी और समस्तरीय वस्तु समझने का मात्र उपक्रम है।

मकर संक्रान्ति
१४ जनवरी, १६६८

कमलाकान्त पाठक

निबन्ध-क्रम

रचना और आलोचना

रचना और आलोचना के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में प्रायः स्फुट और सामान्य विचार प्रकट किये गये हैं। यह सम्बन्ध-निरूपण कभी सर्जन-प्रक्रिया के दृष्टि-कोण से हुआ है और कभी आलोचना की उपलब्धियों के दृष्किोण से। इन दोनों का सहकारित्व भी यदाकदा स्पष्ट किया गया है। साहित्य को कला के वर्ग में रख कर समीक्षा को विज्ञान की भूमिका देने के प्रयास भी हुए हैं।

साहित्य-समीक्षा के कार्य में वस्तुनिष्ठ तटस्थता के अतिरिक्त समीक्षक की सहृदयता, संवेदनशीलता अथवा भावकत्व की अनिवार्यता का स्वतंत्र मूल्य और अनुपेक्षणीय महत्व है। अतएव उसमें वैज्ञानिक पद्धति की विश्लेषणात्मक विश्वसनीयता का समावेश होना ही चाहिए, पर वह कहीं भी कला-मार्ग से भिन्न किसी अन्य पथ पर संचरण करने के लिये स्वतंत्र नहीं है। यहीं रचना और आलोचना का मूलभूत सहकारित्व स्पष्ट होता है। आलोचक मूलतः कवि-कर्म का भोक्ता, प्रमाता या आस्वादक होता है। वह न मात्र अध्येता है, न किसी समाज विशेष का प्रतिनिधि और न कोई वैज्ञानिक। विशिष्ट दर्शन या वैचारिक दृष्टिकोण भी सर्वत्र उसका सहायक नहीं होता। उसे अन्ततः रचना की प्रकृत भावभूमि पर आकर ही अपना कार्य संपन्न करना पड़ता है। इस क्षेत्र में अध्येता, वैज्ञानिक, दार्शनिक या प्रतिनिधि आदि की कार्य-पद्धति प्रासंगिक होती है, अधिकारिक नहीं। अध्येता सौन्दर्य-तत्व की छानबीन और परीक्षा करता है, समाज विशेष का प्रतिनिधि कृति की तरतमता निर्णीत करता है और उसके मूल्यमापन का उपक्रम; आलोचक वैज्ञानिक पद्धति को समग्रतः या अंशतः ग्रहण अवश्य करता है, पर वह वैज्ञानिक नहीं होता, क्योंकि भावन-व्यापार का बौद्धिक निरूपण करने के कारण उसे भाव-शून्य हो पाने का अवकाश ही नहीं होता; तथा दार्शनिक मताग्रही हो जाता है, वह अपने दृष्टिकोण

को ही प्रमुखता देता है, कृति के सहज सौन्दर्य को नहीं। आशय यह है कि आलोचक की मूल शक्ति मर्मज्ञता है, केवल शास्त्रज्ञता या अन्य कोई विशेषता नहीं। अनुभूति का आधार छोड़ देने पर आलोचना, सौन्दर्य का स्वरूप स्पष्ट करनेमें कृतकार्य नहीं हो पाती। भावना और विचारणा का समंजित सहकारित्व आलोचना की मौलिक अपरिहार्यता या विवशता है। रचना और आलोचना का पारस्परिक सम्बन्ध और तात्विक सहकार्य किसी कारण भिन्न कोटि क्रम की वस्तु है। यह सम्बद्धता विशिष्ट है, सामान्य नहीं।

यहां रचना उस कृति को समझा गया है जो सर्जना का परिणाम होती है और आलोचना से अभिप्राय है वह साहित्यिक कार्य, जो रचना के सौन्दर्य को अनावरित, विश्लेषित या विवेचित करता है। पहला व्यापार निर्माण-प्रक्रिया लिये हुए है, जिसमें व्यक्ति विशेष के अंतरंग का बहिरंग प्रकाशन होता है। दूसरा व्यापार रचना विशेष के बाह्याभ्यंतर तत्वों को आत्मसात् करता हुआ, सामान्य रचना-तत्वों के आधार पर अनुभूत सौन्दर्य का बौद्धिक निरूपण किया करता है। वस्तुतः रचयिता और आलोचक दोनों ही अपने आप को अभिव्यक्त करते हैं, क्योंकि विषय-वस्तुका अस्तित्व ही अनुभूति पर आश्रित हुआ करता है। रचयिता अपनी अनुभूति की सीधी अभिव्यक्ति करता है, पर आलोचक इसी कार्य की बौद्धिक विवेचना करने में प्रवृत्त होता है। आलोचक के कार्य में काव्यानुभूति ही मूलाधार होती है, पर वह विवेचना में अप्रत्यक्ष बनी रहती है, वर्ण्यवस्तु के स्थान पर अपना अधिकार नहीं जमाती। इसी कारण रचना रसात्मक, आह्लादक या आत्मतोष-प्रदायिनी होती है और आलोचना प्रामाणिक, उपयुक्त या निर्भ्रान्त। पहली आत्माभिव्यक्ति है और दूसरी उसी की बौद्धिक अनुगूंज। एक सर्जना है और दूसरी पुनर्सर्जना। आधारभूत तत्व के प्रायः समान होने पर भी रचना और आलोचना में व्यापार-भेद के कारण प्रस्थान-भेद पाया जाता है। जहां रचयिता कला-मार्ग का अनुसरण करता है, वहां आलोचक कला-सम्बन्धी शास्त्र-मार्ग पर अग्रसर होता है। रचयिता को अपना रास्ता आप बनाने का जितना अवसर मिलता है, उतना आलोचक को नहीं। रचयिता जिस काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि करता है, उसी का तत्वाभिनिवेशी मर्मोद्घाटन करना आलोचक का कार्य है। साहित्य व्यापक जीवन से ही अनुभूतियों को ग्रहण करता है और आलोचना में इन्हीं की समीक्षा होती है। साहित्य का विषय जीवन है और आलोचना का साहित्य, पर दोनों ही अनुभूति तत्व को लिये हुए हैं। एक जिसे रूपायित करता है, दूसरा उसी का भावन और विवेचन करने में प्रवृत्त होता है। अनुभूति तत्व मूलतः एक ही है, पर वह रचयिता के लिये प्रकृत वस्तु है और आलोचक के लिये अनुकृत वस्तु। रचना इसी कारण कारयित्री प्रतिभा का उन्मेष होती है और आलोचना भावयित्री प्रतिभा की बौद्धिक अभिव्यक्ति। दूसरे शब्दों में विधायक कल्पना कलाकृति के रूप में अभिव्यंजित होती है और ग्राहक कल्पना आलोचना के माध्यम से सक्रिय।

आलोचना के लालित्यपूर्ण या रचनात्मक हो जाने का खतरा भी इसी कारण है। जब कभी बुद्धि की वल्गा ढीली पड़ जाती है, तभी प्रभावाभिव्यंजक या आत्माभिव्यंजक आलोचना लिखी जाने लगती है। अपने आप में यह उच्छिष्ट रचना व्यापार ही है, जिसमें नवोन्मेष तो नहीं होता, पर रसज्ञता होती है। शास्त्र-मार्ग पर सुदृढ़ न रह पाने के कारण उसे शुद्ध आलोचना कहा भी नहीं जा सकता। आलोचना रस-ग्रहण मात्र नहीं है, क्योंकि वह कृति की बुद्धिनिष्ठ विवेचना भी अनिवार्यतः करती है।

इसी सन्दर्भ में यह प्रश्न स्वभावतः उपस्थित होता है कि रचना और आलोचना क्रमशः राग-वृत्ति और व्यवहार-बुद्धि की उपज होते हुए भी किस कारण एक-दूसरे पर निर्भर हुआ करती है ? इस प्रश्न के सामान्य उत्तर दिये गये हैं। स्पष्टतः आलोचना का विषय ही रचना है, अतएव वह नियमन और अनुशासन ही नहीं, साहित्य का मार्गदर्शन और मूल्यांकन भी करती है। वह स्वामिनी ही नहीं है, उसे साहित्य की सुहृद् सखी और सेविका भी कहा गया है। पर ये सभी निर्देश आलोचकके कार्यकी महत्ताको ज्ञापित करते हैं। रचना के महत्व को संकेतित करने वाले निर्देश भी पाये जाते हैं, जिनमें कला-सर्जना को मूल वस्तु माना गया है और आलोचनाको उसकी आह्लादकता या रसवत्ता का निदर्शक परिवर्ती कार्य। ये दोनों प्रकार के संकेत क्रमशः आलोचना और रचना के वैशिष्ट्य को प्रकट करते हैं, पर इनसे समीक्षा और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्रों का अथवा उनकी परिपक्वता या अन्तरावलंबन का अभिज्ञान नहीं होता। यहां मैं रचना और आलोचना की पारस्परिक निर्भरता की खोजबीन शुद्ध-साहित्यिक दृष्टिकोण से ही करना चाहता हूं। इस सम्बन्धता का ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक या व्यावसायिक दृष्टिकोण से आख्यान करना मुझे अभीष्ट नहीं है, क्योंकि ये सभी साहित्यिक विश्लेषण की वे रीतियां हैं, जिनमें साहित्य तत्व की प्रतिष्ठा प्रकारान्तर से ही हो पाती है।

आलोचक और रचयिता यदि दोनों ही समानधर्मा हुए, तो सम्यक् आलोचना सहज सम्भाव्य होती है। भवभूति को अपने समानधर्मा आलोचक का अभाव खटका ही था। समानधर्मा का आशय क्या है ? जिस आलोचक की विद्या, बुद्धि और योग्यता मात्र ही नहीं, बल्कि जिसकी अनुभूति, नैतिक चेतना, जीवन-दृष्टि, अन्तःसंस्कार और अभिरुचियां, आदि स्रष्टा कलाकार के साथ समरूप हों अथवा जिसकी संवेदनशीलता इतनी तीव्र हो कि जो रचनाकार के साथ पूर्णतः तद्वत् हो जाये, वही समानधर्मा आलोचक समझा जाएगा। समसामयिक आलोचक अपने युग की रचना-प्रवृत्तियों के साथ प्रायः घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होता है, अतएव उसे समानधर्मा हो पाने का अधिक अवकाश रहता है, पर यह अनिवार्य नहीं है कि रचयिता और आलोचक दोनों एक ही प्रवृत्ति, युग या जीवन-दृष्टि से संयुक्त हों। तत्वतः समान-धर्मा होने के लिये रचयिता और आलोचक का एक ही युग में उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है। सुविधा की व्यवहार-बुद्धि के कारण एक ही युग में दोनों की उपस्थिति उपादेय मानी जा सकेगी। पर यदि

यह अनिवार्य होता, तो देश और काल के भेद के कारण अधिकांश साहित्य अनालोच्य हो जाता। साहित्य जहां युग-विशेष की सर्जना है, वहां वह स्थायित्व लिये हुए भी है। आशय यह है कि तात्विक समानधर्मिता किसी भी युगमें और किसी भी स्थान पर घटित हो सकती है। वह हृदय-संवाद या सौन्दर्यका आह्लादहै, जो रचयिता और आलोचकको समान मनःस्थिति में ले आया करता है। साधारणीकरण प्रक्रिया द्वारा यह सम्भव होता है। इस सिद्धान्त की जितनी उपादेयता सामाजिक के लिये है, उतनी ही अपरिहार्यता आलोचक के लिये है। रचना का अर्थ-ग्रहण मात्र जिस आलोचना का आधार होता है, वह वैज्ञानिक या सैद्धान्तिक पद्धति को अपना लेने पर भी प्रामाणिक या समीचीन नहीं हो पाती। मूल अनुभूति के पुनर्प्रत्यक्षीकरण के अभाव में आलोचना कृतकार्य ही नहीं हो पाती।

समानधर्मा आलोचक का मुख्य लक्षण है, अभिव्यक्त अनुभूति की पुनरानुभूति प्राप्त करने की क्षमता। यह विशेषता प्रायः सभी प्रकार के आलोचकों का अपरिहार्य गुण मानी गयी है। समानधर्मा आलोचक से आशय मात्र तात्विक या मूलभूत समानुभूति नहीं है, वह कुछ और भी है। व्यक्तित्व के आभ्यंतर पक्ष की समानता ही 'वह कुछ और' वस्तु है। इसी के अन्तर्गत जीवन-दृष्टि, संस्कार, युग-चेतना का स्पंदन, अभिरुचि, सौन्दर्य भावना, आदि की परिगणना की जायेगी। यदि रचयिता और आलोचक की समान मनःस्थिति हो तो, कृति विशेष की समीक्षा अधिक स्वारस्यपूर्ण हो सकेगी। कृतिकार यह विश्वास रख पायेगा कि उसके प्रति कोई अन्याय नहीं किया जायेगा और उसकी कृति के समग्र सौन्दर्य का वास्तविक और सम्यक् आलोचन सम्भव होगा। अवश्य ही आलोचक के अन्य आवश्यक गुणों की यहां उपेक्षा नहीं हो सकेगी। मैं समझता हूं कि यही समानधर्मिता का तत्व आलोचक का पूर्वाग्रह भी बन सकता है। फलतः वह अपने कार्य में निष्पक्षता का सम्यक् निर्वाह नहीं कर पायेगा। प्रत्येक युग का आलोचक प्रायः इसी सीमा में अधिक या कम परिबद्ध होकर कार्य करता है। यहीं काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त और महान साहित्य के लक्षण उसके सहायक सिद्ध होते हैं। जहां कहीं यह समानधर्मिता स्थायी साहित्य के परीक्षित मानों को स्वीकार करती हुई अग्रसर होती है, वहीं श्रेष्ठ आलोचना का निर्माण सम्भव होता है। निस्संदेह यह उपलब्धि विरल है, सर्वसुलभ नहीं।

अधिकांश आलोचना शास्त्रीय परिबद्धता के कारण कहीं जड़ हो जाती है और कहीं युग-चेतना को अत्यधिक महत्व देने के कारण पत्रकारिता के स्तर पर उतर आती है। ये दोनों आलोचना की अतिवादी परिणतियां हैं। वास्तवित आलोचना शास्त्रज्ञता का मात्र आधार अपनाती है और युग-चेतना के माध्यम से सजीवता का अर्जन करती है। वह स्थिर और गतिशील तत्वों को संतुलित रूप में समंजित कर लेती है। तभी वह प्रामाणिक, सजीव और निर्वैयक्तिक हो पाती है। साहित्य का रसास्वाद या उसकी सौन्दर्यानुभूति यहीं आलोचक की शक्ति बन जाती है, जिसके कारण उसके कार्य को मर्मज्ञता,

रसज्ञता या तलस्पर्शिता का परिचायक समझा जाता है। समानधर्मा आलोचक की यही महान सिद्धि है। आलोचक का व्यक्तित्व इसी कारण दोहरा होता है। वह अनुभूति-प्रवण ही नहीं, चिन्तनशील भी होता है। वह सहृदय तथा पंडित या भावक तथा शास्त्रज्ञ एक साथ होता है। अपने अनुभवों का तटस्थ होकर विश्लेषण करने की उसकी सामर्थ्य लगातार परीक्षित हुआ करती है।

आलोचना प्रायः शास्त्रीय और सामयिक भूमिका पर ही अधिक लिखी जाती है। सामयिक आलोचना को भ्रांतिवश साहित्यिक आलोचना कह दिया जाता है और शास्त्रीय आलोचना को स्कूली (शैक्षिक) कार्य। सामयिक वस्तुतः आत्माभिव्यंजक आलोचना के कोटि-क्रम की, किंतु उससे भिन्न वस्तु है। यह आस्वादनीयता के पक्ष की आंशिक अवहेलना करती है और उसके स्थान पर युग विशेष की प्रवृत्तियों, विचार-धाराओं और साहित्यिक उपलब्धियों की प्रतिष्ठा। इसी कारण यह आलोचना कभी-कभी सतही ज्ञात होती है, जिसे सारग्राही या मताग्रही, अनुकूल या प्रतिकूल, यथार्थ या अयथार्थ, सार्थक या असार्थक कहा जाता है। यह साहित्य का नया मान स्थिर करने की दिशामें क्रियाशील होती है और रचना-विशेष को प्रतिष्ठित या अपदस्थ करनेमें सहायक। इसे युगीन साहित्य की सीमाओं का प्रायः सम्यक् परिज्ञान नहीं होता और यह प्रतिष्ठित प्रतिमानों की शक्ति का अवमूल्यन भी किया करती है। इस प्रकार की सामयिक आलोचना के क्षेत्र में रचयिता सहानुभूतिशील ही नहीं, अपनी विचारणा के समर्थक आलोचक की भी अपेक्षा रखा करता है। समानधर्मिता के आयाम इस स्थिति में अतिशय संकुचित हो जाते हैं और आलोचना संकीर्ण या मतवादी होने लगती है। रचयिता ऐसे आलोचक को अपना पक्षधर अथवा अपनी ही जैसी मनोदृष्टिवाला भावक समझने लगता है। यद्यपि रचयिता और आलोचक का यह सम्बन्ध गौरवपूर्ण नहीं होता तथा प्रामाणिक मूल्यांकन का साहित्यिक कर्त्तव्य भी पूरा नहीं हो पाता, तो भी सर्जनात्मक और समीक्षात्मक प्रवृत्तियों का इसी माध्यम से युग-पद् विकास होता रहता है यह सत्य है। कि जहां समर्थन के स्तरपर आलोचना लिखी जायेगी, वहां विरोध की भूमिका भी अपनायी जाएगी। इस तरह खंडनमंडनात्मक या प्रचारात्मक और विवादास्पद आलोचना की प्रचुरता होने लगती है। यह प्रवृत्ति अपनी सीमा के भीतर विचार-स्वातंत्र्य का प्रजातांत्रिक आदर्श अवश्य लिये हुए है, पर इस कोटि का आलोचक तटस्थ न्यायाधीश के आसन से अपदस्थ होकर पक्षधर अभिवक्ता का स्थान ग्रहण कर लेता है। सम्भवतः इसी कारण समय को साहित्य का एकमेव प्रामाणिक आलोचक माना गया है। पर यह कथन न किसी उपयुक्त मानदंड का बोध कराता है और न समानधर्मा आलोचक की अनुपयोगिता को सिद्ध। यह अनुभव का सत्य चाहे हो, चिन्तन का परिणाम अवश्य नहीं है। यह तो बुद्धि की सीमा का उल्लेख है। आशय यह है कि रचना और आलोचना का अन्तरावलंबन समानधर्मिता के स्तर पर अधिष्ठित होकर साहित्य के सर्वांगीण विकास की दिशाओं को स्पष्ट करता है। समानधर्मिता मात्र समसामयिकता नहीं है, क्योंकि वह

किसी भी युग और समाज की सीमाओं का अतिक्रमण करने में समर्थ होती है। इसी प्रकार साहित्य का विकास रचना और आलोचना की सम्बद्धता का ही परिणाम नहीं है, क्योंकि अन्यान्य अन्तर-बाह्य स्थितियां भी उसे संघटित करती हैं। अवश्य ही रचना आलोचना के पारस्परिक सम्बन्धों की खोजबीन युग-जीवन के संदर्भ के अभाव में एकांगी होती है।

रचयिता प्रायः आत्म विज्ञप्ति करते हैं और अपनी आलोचना आप लिखते हैं। समानधर्मा आलोचक के अभाव अथवा आत्मरति के आग्रह के कारण यह अनौचित्य प्रत्यक्ष होता है। वास्तव में रचयिता को अपनी कृति में ही परितुष्ट होना चाहिए, पर यशलिप्सा, मत्सर या व्यावसायिक प्रतिष्ठा के खातिर वह स्वयं आलोचक का बाना भी धारण कर लेता है। वह अपनी साहित्य-दृष्टि या सैद्धान्तिक मान्यताओं के स्पष्टीकरण के लिये जब-तब लम्बी आलोचनायें भी लिखा करता है। इसे बुद्धिवादी युग का तकाजा समझा जाता है। आलोचना साहित्यानुभूति का बौद्धिक निरूपण होती अवश्य है, पर वह विशेष से सामान्य तक, अनुभूति से सिद्धान्त तक अथवा कृति विशेष से कृति मात्र तक के सत्य का सन्धान करती है। यहीं वह व्यक्तिगत उपलब्धि को सार्वजनिक वस्तु और व्यापक सत्य के रूप में प्रकाशित करती है। समानधर्मा आलोचक की यही भूमिका होती है, अन्यथा वह नये प्रतिमानों की सृष्टि करने में असफल हो जाता है और साहित्य की गति अवरुद्ध हो जाती है। जिस प्रकार व्यक्तिगत अनुभूति को सर्वसंवेद्य रूपाकार देनेपर ही रचयिता कृतकार्य होता है, उसी प्रकार कृति विशेष से सम्बन्धित अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रिया, धारणा या साहित्यानुभूति को जो आलोचक प्रवृत्तिधारा, युग या साहित्य मात्र के सत्य के निकष पर कस लेता है, उसी का कथन प्रमाण बन जाता है। अतएव लेखकीय आलोचना प्रकृत्या व्यक्तिगत वस्तु अधिक होती है और सार्वजनिक कम। उसका प्रमुख आकर्षण व्यक्ति-सत्य का उद्घाटन होता है, कृति का सार्वजनिक मूल्यांकन नहीं। इस स्थिति में कवि और सामाजिक के मध्य आलोचक का अस्तित्व अनावश्यक और अनुपयोगी समझ लिया जाता है।

समानधर्मा आलोचक का रचयिता के साथ प्रायः सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, पर यदि वह सम्बन्ध सार्वजनिक न हुआ, अथवा रचयिता और आलोचक दोनों का पारस्परिक ही नहीं सामाजिक के साथ भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित न हो पाया या वह सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गया, तो रचना और आलोचना दोनों ही पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। स्पष्टतः रचना, आलोचना और सामाजिक तीनों में कहीं अलगाव नहीं होना चाहिए अर्थात् इन्हें साहित्य के त्रिकोण के रूप में परस्पर सम्बद्ध रहना चाहिये। इसी स्थिति में रचना और आलोचना दोनों कृत-कार्य हो सकती हैं और दोनों का समवेत विकास भी सम्भव होता है।

इसी भांति रचना और आलोचना दोनों ही जीवन से अविच्छिन्न रूप में सम्बद्ध हैं। इस सम्बन्ध सूत्र को तोड़ फेंकने की स्वतंत्रता न रचयिता को है और न आलोचक को। समाज, साहित्य और समीक्षा की पारस्परिक सम्बद्धता के माध्यम से ही साहित्य के क्षेत्र में नित्य नये परिवर्तन संघटित होते हैं, रचना-प्रवृत्तियां बदलती हैं और आलोचना के मानों में उलट-फेर होता है। साहित्य और समीक्षा दोनों में अनिवार्यतः जीवनानुभूति का अन्तर्भाव हुआ करता है। जीवन से पृथक् होते ही साहित्य कल्पना का क्रीड़ागार हो जाता है और समीक्षा अर्थहीन वाग्विलास। जीवन की चेतना ही इन दोनों के अस्तित्व को सार्थकता प्रदान करती है और इन्हें सप्राण बनाये रखती है।

साधारणतः जीवन का व्यक्त स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। परिस्थितियां, घटनायें, व्यक्ति, जातियां, समाज विशेष के व्यापार, विविध व्यवस्थायें और प्रमुख संस्थाएं, आदि जीवन के प्रत्यक्ष रूप का बोध कराती हैं। सामाजिक संरचना, आर्थिक राजनीतिक परिस्थितियां, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, आदि किसी भी देशकाल के जीवन को मूर्त करने वाले उपादान हैं। किन्तु ये ही सम्पूर्ण जीवन नहीं हैं। जीवन का स्थूल रूप और भौतिक पक्ष ही सब-कुछ नहीं है। हमारी चेतना या विचार जगत् की आन्तरिक शक्ति परिस्थितियों को बनाती-बिगाड़ती रहती है और हमारी परिस्थितियां भी उक्त चेतना का स्वरूप-निर्धारण करने में सक्रिय दिखाई पड़ती हैं। यही चेतना वह मूल तत्व है, जो जीवन के समस्त कार्य-व्यापारों में प्राणधारा की भांति परिव्याप्त है। इसी के कारण सामाजिक जीवन और राजनीतिक तथा आर्थिक कार्य-कलाप एवं नीति या धर्म के मन्तव्य परस्पर सम्बद्ध होते हैं और यही सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत अनुभूति तथा सर्जना-व्यापार एवं समीक्षा-कार्य को सुशृंखलित बनाए रखती हैं। प्रत्येक युग की चेतना का अपना पृथक् व्यक्तित्व होता है, जो सामाजिक जीवन, साहित्यिक रचना और बौद्धिक आलोचना में अन्तश्चेतना की भांति सजग, सक्रिय और परिव्याप्त रहता है। इन्हें वह एक-दूसरे से विच्छिन्न भी नहीं होने देता। समय की स्थिति विशेष की चेतना एक ही होती है और उसका स्वरूप भी सर्वत्र प्रायः एक जैसा होता है। वह जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित कर देती है। विचार, भाव और क्रिया के पृथक्-पृथक् आयामों में उसकी विविधरूपा अभिव्यक्ति अवश्य होती है। पर यह चेतना स्थिर वस्तु नहीं है, सक्रिय तत्व है। इसी कारण प्रत्येक युग में प्रधान और गौण तथा नई और परम्परित प्रवृत्तियां एक साथ क्रियमाण दिखाई पड़ती हैं।

इसी युग विशेष की चेतना के अभेद या एकत्व के कारण रचना और आलोचना एक-दूसरे पर अवलम्बित हो जाती हैं। इन दोनों में एक ही विचार तत्व से अनुस्यूत समान प्रवृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं और व्यक्त जीवन में भी इसी चेतना की सक्रियता के प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध होते हैं। दार्शनिक धरातल पर चेतना चाहे अखण्ड और अविभाज्य ही मानी जा सके, पर प्रत्येक युग की विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में वह नाना रूपों और प्रकारों में अपनी अपूर्वता को अभिव्यक्त अवश्य किया करती है।

रचना और आलोचना अनुभूति की समानधर्मिता के स्थायी एकत्व के स्थान पर इसी तत्कालीन सामरस्य को कहीं अधिक उपादेय समझने लगती है। यह युग-चेतना की समानधर्मिता है, जो वैचारिक और नैतिक आधारों पर बाह्य और आभ्यंतर जीवन की एकरूपता को लक्षित करती है। कहना न होगा कि यह एकता वैचारिक धरातल पर ही मुख्यतः चरितार्थ होती है और नव्यता उसका प्रतिमान होता है। यहां अनुभूत्यात्मक समत्व को तात्विक वस्तु नहीं समझा जाता। संवेदन, संस्कार, नुरुचि, दृष्टिकोण, आदि की सतही समानता को ही यहां एकत्व-विधायक तत्व मान लिया जाता है। एक ही विशिष्ट चेतना का विलास होने के कारण रचना और आलोचना एक-दूसरे के अधिक समीप आ जाती हैं। जीवन के नये-नये रूपों, व्यापारों और स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिये रचना की नयी-नयी प्रणालियां आविर्भूत होती हैं और इनके सौन्दर्य की विवेचना करता हुआ आलोचक प्रचलित मानों की पुनर्परीक्षा करता है और उसे नये मानों की क्वचित् उपलब्धि भी हो जाती है। परिस्थितियां ही नहीं, विचारणाएं भी गतिशील होती हैं, अतएव रचना और आलोचना की प्रवृत्तियां भी बदलती रहती हैं। प्रत्येक युग की साहित्यिक प्रवृत्तियां भिन्न होती हैं, अतः रचना तथा आलोचना का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहता है। संक्षेप में, युग-चेतना की सक्रियता रचना और आलोचना के पार्थक्य को निरन्तर पूरती रहती है और उन्हें समान प्रवृत्तियों के आधार पर संगठित और विकसित किया करती हैं। इस प्रक्रिया के कारण आलोचना और रचना एक-दूसरे पर अवलंबित रह कर विकसित होती हैं। इस प्रकार आलोचना साहित्य की उपकर्त्री ही नहीं रह पाती, वह उसका उपजीव्य भी हो जाती है। वह अनुगामिनी ही नहीं, सहचारिणी भी हो जाती है।

प्रत्येक युग में स्थितिशील और गतिशील का नैरन्तर्य विद्यमान रहता है। इन दोनों प्रकार के तत्वों में पारस्परिक संघात अनिवार्य हो जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक युग का विकास या ह्रास होता रहता है। इसी कारण रचना और आलोचना के अन्तरावलंबन को एक सीधी सपाट रेखा नहीं समझना चाहिये यह सम्बन्ध भाव काफी जटिल है, उलझन-भरा है। प्रत्येक युग में प्रतिष्ठित मूल्यों और नये निष्कर्षों में खींचतान होती ही रहती है। रचना के क्षेत्र में परम्परा के त्याग और ग्रहण तथा नवोन्मेष की सिद्धता या असिद्धता के प्रयोग या परीक्षण हुआ करते हैं। आलोचना के क्षेत्र में पूर्ववर्ती और परवर्ती मान्यताओं तथा स्थायी और सामयिक मानों की टकराहट भी कम उत्तेजक नहीं होती। इस प्रक्रिया में पड़कर रचना और आलोचना समानधर्मा हो जाती हैं। अतः इन दोनों का विकास एक जैसा होने लगता है और विवश होकर ये एक साथ चल पड़ती हैं।

रचना और आलोचना की समानधर्मिता के लिये हमने स्थायी तत्वों के आधार पर अनुभूति को जहां आवश्यक समझा है, वहां युगीन वैशिष्ट्य के आधार पर वैचारिक

समत्व को भी महत्वपूर्ण माना है। आलोचना-कार्य के स्वतंत्र महत्व की उपस्थापना भावन-व्यापार के आधार पर ही सम्भव होती है, पर रचना और आलोचना के युग-पद् साहित्यिक विकास के लिये युग-चेतना की प्राणधारा का मूल्य सर्वोपरि होता है। अनुभूति के धरातलपर आलोचना साहित्य की ऊंचाइयोंको स्पर्श करती है, पर प्रवृत्तिमूलक या वैचारिक एकतानता के आधार पर वह साहित्य के समतल का विस्तार करती है। वस्तुतः ऊंचाई और विस्तार या गरिमा और व्याप्ति दोनों ही आवश्यक हैं, पर धारा-प्रवाह में ऊंचाई की उपेक्षा होती रहती है और विस्तार ही साध्य हो जाता है।

हिन्दी के साहित्येतिहास पर दृष्टिपात करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक कवियों को अपना काव्यादर्श स्वयं उपस्थित करना पड़ा है। प्रसाद और पंत ही इस कथन के उदाहरण नहीं हैं, परन्तु तुलसी और जायसी ने भी इस प्रकार के उल्लेख किये हैं। रीतिकाल के आचार्य-कवियों ने सिद्धान्त-निरूपण और रचना-कार्य दोनों को एक साथ अपनाया था। अंग्रेजी के अनेक साहित्यिकों ने, विशेषतः स्वच्छन्दतावादियों और नये लेखकों ने, अपनी साहित्य-दृष्टि का सम्यक् विवेचन किया है। हिन्दी आलोचना के विकास के साथ-साथ सर्जनात्मक प्रवृत्तियों का भी समतुल्य विकास हुआ है। भारतेन्दु-युगीन रचना और आलोचना में समान प्रवृत्तियां पायी जाती हैं और उन दोनों के साहित्यादर्श भी अभिन्न हैं। हिन्दी के नवोत्थानवादी, स्वच्छन्दतावादी और यथार्थवादी साहित्य और समीक्षा में भी इसी प्रकार का प्रवृत्यात्मक साम्य चरितार्थ हुआ है। नवोत्थानवादी युग की रचना और आलोचना का साहित्य-दर्शन एकत्व लिये हुए है। काव्य-वस्तु की महत्ता और नैतिक चेतना की प्रबलता दोनों ही क्षेत्रों में स्वीकृत हुई है। स्वच्छन्दतावादी युग में आत्माभिव्यक्ति का सौन्दर्य ही सर्वोपरि हो उठा और वह रचना-कार्य तथा आलोचना-दृष्टि दोनों में प्रत्यक्ष हुआ। यथार्थवादी धारा में व्यक्तिवादी और समाजवादी प्रवृत्तियों के विभेद के कारण रचना और आलोचना के उभय रूपों का विकास हुआ। मनोवैज्ञानिक और समाजवादी आधारों पर आलोचनाएं लिखी गयीं और सर्जनात्मक प्रवृत्तियां भी इन्हीं आधारों पर विकसित हुई। सम्प्रति आधुनिक जीवन-बोध के मान को लेकर वस्तुवादी भूमि पर सर्जना और समीक्षा सक्रिय हो उठी हैं। इस युग की रचना और आलोचना का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि दोनों का पारस्परिक सम्बोधन या संवाद ही प्रमुख हो गया है। साहित्य के त्रिभुज की तीसरी भुजा अर्थात् सामाजिक यहां सर्वथा विस्मृत कर दिया गया है। प्रत्येक युग की रचना और आलोचना की उपलब्धियां प्रायः समस्तरीय दिखाई पड़ती हैं। इसकी शास्त्रीय प्रतिक्रिया भी महत्वपूर्ण होती है, यथा--

रस सिद्धान्त को शुक्ल जी ने वस्तु की महत्ता के आधार पर व्याख्यायित किया था, वाजपेयीजी ने उसे समग्र कवि-कर्म के सन्दर्भ में देखा-परखा और डा. नगेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए अनुभूतियों के आस्वाद्य स्वरूप का बौद्धिक

२

साहित्य का मूल्य

जीवन की भांति साहित्य एक गतिशील व्यापार है। न जीवन ही कहीं एकरूप रह पाया है, न साहित्य ही कहीं एकरस दिखाई पड़ता है। जीवन के मान और मूल्य बदलते रहते हैं और उसी संदर्भ तथा उतने ही अनुपात में साहित्य के मान और मूल्य भी बदल जाते हैं। पर क्या वे वस्तुतः बदल जाया करते हैं?

जीवन एक अखंड धारा-प्रवाह है, जो प्रत्येक युग में नया दिखाई पड़ता है। उसकी गति, मति और निष्ठा में सतत परिवर्तन होता रहता है। देश, काल या व्याप्ति आदि आयामों में उसे सदैव नये स्वरूपों में देखा-परखा जाता है। एक ही नदी भिन्न-भिन्न स्थलों पर जिस भांति पृथक-पृथक संदर्भ प्रकट करती जाती है, उसी भांति जीवन-विकास की नाना स्थितियां भी दिखाई पड़ती हैं। वैचारिक क्रांतियां होती हैं और उनके कारण नैतिक और धार्मिक दृष्टि, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना तथा राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था बनती और बिगड़ती रहती हैं। इन्हीं के अनुरूप मानव-संस्कृतियां विकसित होती हैं और उनका चैतन्य तथा स्वरूप संघटित हुआ करता है। समय ही नहीं, स्थान के विभेद के कारण भी इन परिवर्तनों में अनेक प्रकार के अंतर स्पष्ट होते हैं। दिक् और काल की गति के साथ मानव-जीवन की गतिशीलता का जहां जिस रूपमें संघात होता है, वहां उस रूप में नव्यता का आविर्भाव होता है। इसी सक्रियता के फलस्वरूप नित्य नवीन भाव-बोध स्फुरित होता है और परंपराएं बनती, टूटती और सँवरती हैं। परिवर्तन आवश्यक है और महत्वपूर्ण भी, पर वह मानव-जीवन का संपूर्ण दर्शन नहीं है। प्रत्येक युग और उसकी प्रत्येक पीढ़ी अपने पूर्ववर्ती युग तथा अपनी पिछली पीढ़ी से क्रमशः आगे बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। पर इनमें परस्पर वैषम्य ही नहीं है, बल्कि साम्य भी है। अधुनातन मानव आदि मानव से नितांत भिन्न है, पर दोनों का मौलिक मानवत्व असमान नहीं है। आशय यह है कि परिवर्तनों के प्रभाव से अस्पृष्ट कतिपय ऐसे तत्व भी हैं, जो

कदाचित् सुस्थिर रह सके हैं और शेष सभी तत्व संक्रमणशील या गतिमय ज्ञात होते हैं। पृथ्वी निरंतर गतिशील है, उसमें अनेक उलट-फेर भी हुए हैं। पर वह पृथ्वीत्व को नहीं छोड़ सकी है, इसी भांति मानवत्व के धरातल पर देश-काल के, रंग-रूप के अथवा मत और संप्रदाय के विभेदों के बावजूद हम मूलतः, तत्वतः या स्थायित्व के दृष्टिकोण से अभिन्न हैं। समत्व की धारणा के अभाव में तो यह नामरूपात्मक जगत् पुंजीभूत वैषम्य मात्र ही दृष्टिगत होगा। अभिनव मानववाद अपनी स्वतंत्रता की आकांक्षा में क्या अति-वैयक्तिकता के कारण इस विभेद-सरणी से आक्रान्त नहीं है? मैं समझता हूं कि तथ्या-श्रयी या सत्यान्वेषी चिन्तक को समता और विषमता अथवा विभेद और साम्य की इन उभय दृष्टियों में संतुलन स्थापित करना चाहिये। सत्य को संपूर्ण रूप में और वास्तविक परिप्रेक्ष्य में देखने, समझने और अनुभव करने का प्रशस्त मार्ग भी यही है।

अस्तु, जीवन पुरातन परंपरा है और नवीन आविष्कार भी। वह नित्य है और नवीन भी। हमारे संवेग ही उसकी गति के विधायक हैं। प्राचीन या नवीन, स्थिति या गति, परंपरा या क्रांति, ये सभी अभिधान विशेषत्व-व्यंजक है, विशेष्य के स्थानापन्न तत्व नहीं। ये जीवन के रूप, गुण या व्यापार है, उसके लक्षण हैं, तत्व नहीं। आशय यह है कि जीवन को समझने के लिये एकांगी दृष्टि अनुपयोगी ही ठहरेगी।

और साहित्य की स्थिति कुछ ऐसी ही है। वह रचा जाने पर अपरिवर्तनीय, प्राचीन या वस्तु मात्र हो जाता है, पर रचे जाने की प्रक्रिया में वह सक्रिय, नवीन या रचना-कार्य ही होता है। वह स्थायी वस्तु है और नित्य नवीन रचना भी। वस्तु और रचना की यह विभेदक दृष्टि न भी अपनाई जाय तब भी अतीत और वर्तमान, प्राचीन और आधुनिक, परंपरा और नव्यता आदि विभाजन साहित्य के अंतर्गत असिद्ध नहीं हैं। प्रत्येक युग की साहित्य-दृष्टि में विभेद की स्थिति न केवल अपेक्षित है, वरन् अनिवार्य भी है। युग विशेष का जीवन ही साहित्यिक नवीनता का उद्भावक और नए रचना-कार्य का विधायक होता है। किन्तु साहित्य का रूपाकार या उसका अर्थ और आशय ही तो पृथक् और नया होता है, उसका मूलतत्व कहां बदल पाता है। वह मूलतः और तत्वतः साहित्य ही होता है। युग-सापेक्ष स्थिति के भीतर से ही साहित्य, देश, जाति और काल के प्रतिबंधों को तोड़ता हुआ उस सीमा में प्रवेश करता है, जहां वह साहित्य मात्र हो जाता है अर्थात् शाश्वत् मानव-सत्य की अभिव्यंजना करता है। अतएव साहित्य के मूल्य ठीक जीवन के मूल्यों की भांति न केवल गतिशील होते हैं, न केवल अपरिवर्तन-शील, वे अंशतः स्थिर हैं और अंशतः संक्रमणशील। स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकार के गुणों के कारण हम परंपरा में बंधे हैं और उससे मुक्त भी हैं। साहित्य के मूलभूत तत्व उसे सर्वत्र एक कोटिक्रम प्रदान करते हैं। वह इसी कारण अनहोना या विशृंखल-कार्य नहीं ज्ञात होता। पर उसे विचार, भाव, कल्पना या शैली-प्रसाधनों के क्षेत्र में अमित स्वतंत्रता भी है कि वह जैसी चाहे बने और जो चाहे रूपाकार धारण करे। मानव-जीवन का उत्कर्षा-

पकर्ष मानव के हाथों में है, उसी भांति साहित्य का सौंदर्य-संस्कार भी रचयिता का मुखापेक्षी है। हमारा जीवन सामाजिक अवस्था विशेष का परिचायक ज्ञात होता है। साहित्य भी उसी जीवन के सत्य को वाणी का परिधान पहनाता है। आशय यह है कि जीवन की भांति साहित्य की अभिव्यक्ति एक ओर मानव तत्व की चिरंतनता में व्यापक हो उठती है और वही अपने युग की सीमाओं में मर्यादित जान पड़ती है। महान व्यक्तियों की भांति महान साहित्य का वैशिष्ट्य यही है कि वह युग विशेष की सृष्टि होता हुआ भी देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाए। ऐसा साहित्य अपने युग का तिरस्कार नहीं करता, वलिक उसी के जीवंत लक्षणों के आधार पर अपनी युगातीत दीर्घायु सिद्ध करता है।

साहित्य का मूल्य क्या है, यह वास्तव में जीवन-सापेक्ष प्रश्न है। साहित्य के मूल स्वरूप का यहां स्पष्टीकरण किया गया है। हम साहित्य को न केवल युग-विशेष के संदर्भ में देखें, बल्कि उसे व्यापक धरातल भी प्रदान करें। साहित्य की महती परम्परा और चिंतन की विविध सरणियां हमारी सहायता कर सकती हैं। स्पष्टतः साहित्य के मूल्य का निर्धारण देश विशेष या काल विशेष के आधार पर ही नहीं किया जा सकता, अन्यथा नवीनता और दृष्टिविशेष या शिल्प-विशेष के आग्रह ही सर्वोपरि वस्तु ज्ञात होंगे। मैं समझता हूं कि साहित्य के स्थायी मूल्य वे हैं, जो एकओर साहित्यके अंगभूत तत्वहैं और दूसरी ओर जिनका संबंध मानव की स्थायी अंतर्वृत्तियों के साथ सुनिश्चित है। साहित्य के युगीन मूल्य भी हो सकते हैं, जो युगविशेष के जीवन की संगति में पहचाने जायेंगे। युग-जीवन का सम्यक् बोध, नई विचारदृष्टि, अभिव्यक्ति की नवीन शैलियां, प्रभृति विशेषताएं साहित्य के नए गुण हैं, जिन्हें साहित्य का मूल्य इस अर्थ में कहा जा सकेगा कि वे साहित्य की नई और मौलिक प्रवृत्तियों को लक्षित करते हैं। अतएव नवीनता या मौलिकता साहित्य के मूल्य ही हैं, जिनके द्वारा युग-बोध, नवीन चिंतन, विकसनशील शक्तियों का आकलन, सामाजिक दायित्व का निर्वाह तथा कलात्मक नवोन्मेष, आदि की परीक्षा की जा सकेगी। प्रत्येक कृति नवीन रचना होनी ही चाहिये तथा वह मौलिक होने के साथ-साथ अपने युग-विशेष का प्रतिनिधित्व करे, यह भी आवश्यक है।

नवीनता का गुण सामयिकता के साथ साहित्य को संबद्ध रखता है। फलतः वह निरंतर आधुनिक वना रहता है। मौलिकता का तत्व साहित्य को परंपरा से बांधने के स्थान पर उसे कला-क्षेत्र को विस्तृत करने और नई उपलब्धियों को उपस्थित करने की प्रेरणा देता है। नवीनता का मूल्य साहित्य को युग-जीवन के साथ सतत गतिशील वनाए रखता है और मौलिकता का तत्व साहित्य को नई दीप्ति, नव्य चेतना और नए सौन्दर्य से मंडित किए रहता है। जिस रचना में जीवन के सत्य का संवेग जितना प्रवल होगा और संवेदन जितना तरल, वह रचना उतनी ही प्रभविष्णु ज्ञात होगी।

क्या साहित्य का मूल्यांकन उसकी इसी शक्ति के आधार पर किया जाए कि वह युग-जीवन के विकास में किस सीमा तक उपादेय है अथवा उसकी प्रेरक शक्ति कैसी है ? यह साहित्य का प्रासंगिक अथवा अतिरिक्त मूल्य है। सभी रचनाएं न इसी लक्ष्य से लिखी जाती हैं, न नेतृत्व मात्र करने का प्रयास साहित्य का कर्तव्यकर्म ज्ञात होता है। साहित्यिक कृतियां प्रभावित कर सकें, यही पर्याप्त है। आनन्द की उपलब्धि साहित्य से प्रभावित होने पर ही होती है। यह प्रभाव आनन्द देने के पश्चात् कुछ और भी दे सकता है और वह जीवन-शक्ति, प्रेरणा, आदर्श या नीति है। पर यह उसका बहिर्मूल्य या अतिरिक्त कार्य है। सभीमहान या स्थायीरचनायें रस, आह्लाद या परितोष तो प्रदान करती है, पर वे शक्तिदायक भी हों, यह अनिवार्य विशेषता उनमें नहीं दिखाई पड़ती। साहित्यका प्रभाव पड़ता अवश्य है, पर वह संस्कार है, चित्तवृत्तियों का समंजन है, उत्साह, प्रेरणा या आदर्श मात्र नहीं। इसी कारण कला के साहित्य तथा शक्ति के साहित्य की दो पृथक् कोटियां निर्धारित की गई हैं। मैं समझता हूं कि कला वहीं कृतकार्य हो जाती है, जहां वह हमें आनन्द की उपलब्धि करा देती है। अतएव प्रचारात्मकता, उद्देश्यनिष्ठता, नैतिक चेतना या गतिप्रेरकता आदि साहित्य के अवांतर मूल्य ही सिद्ध होते हैं। शक्ति का साहित्य अधिक उपादेय होता है, पर वह इसी कारण साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर अधिक मूल्यवान् है, यह नहीं कहा जा सकता। साहित्य का मूल्य उसके साहित्यिक उपादानों के आधार पर निर्णीत होगा, सामाजिक उपादेयता के आधारपर नहीं। साहित्य युग-जीवन के प्रति इस कारण प्रतिबद्ध है कि वही उसकी अनुभूति का वास्तविक या प्रत्यक्ष विषय है। रचनाकार उस पर मुग्ध भी हो सकता है और उसे बदलने का उपक्रम भी कर सकता है। हमें रचनाकार की प्रवृत्ति को स्वतंत्र ही रखना चाहिए। उसका मुख्य कार्य है सौंदर्य की सृष्टि या रस की व्यंजना। उसे उपदेशक, नेता या नीति-निर्देशक बना देना आवश्यक नहीं है। वह साहित्य-स्रष्टा है, युग-द्रष्टा भी है, पर "और कुछ" भी वह हो, यह आवश्यक नहीं है। यही 'और कुछ' साहित्य से विलक्षण अपेक्षाएं रखता आया है। नैतिकता की सूक्ष्म चेतना से लेकर प्रचार-कार्य की सम-सामयिकता तक साहित्य को अनेक दिशाओं में घसीटा गया है। वस्तुतः यह उसकी प्रभाव-क्षमता को अधिकाधिक उपादेय बनाने का प्रयास है। आनंददायक वस्तु कुत्सित नहीं होती है। सौंदर्य अकल्याणकर नहीं होता। सत्य की कलात्मक विवृत्ति अशिव नहीं होती। उसमें शिवत्व भी संमूर्त हो, यह अपेक्षा स्वार्थपरायणता का परिणाम है। सौंदर्य के साक्षात्कार में अर्द्ध-सहृदयों के मन की जो साधारणता है, वही ऐसे प्रयोजनों के मूल में संस्थित है। वास्तव में आनंद चिन्मय है, वहां अच्छे-बुरे, शिव-अशिव, गति और स्थिति, सभी भेदों का तिरोधान हो जाता है। यह मनःस्थिति संस्कारजन्य है, सामान्यतः सुलभ नहीं। जिसका मानसिक संगठन जितना सुदृढ़ होगा, वह साहित्य से आदेश-निर्देश की उतनी ही कम मांग करेगा। साहित्य मानव-संस्कृति का उच्चार होता है, अतएव वह हानिप्रद हो ही नहीं सकता अन्यथा वह साहित्य ही नहीं होगा। जो ललित रचना-कार्य है, उसे उपादेय भी होना चाहिए, यह विचारणा साहित्यिक रचना के मूल्य को सामाजिक दृष्टिकोण से

विश्लेषित करने की प्रवृत्ति का ही प्रदेय है ।

साहित्य और सामाजिक जीवन में प्रकृत्या अंतर है। पहला कलात्मक रचना-कार्य है और दूसरा प्रत्यक्ष वस्तु-सत्य । व्यक्त जीवन के अव्यक्त प्रभावों का आकलन और उन्हें नवीन रूप, बिंब या छवि के रूप में प्रत्यक्ष या व्यक्त करने का आयोजन साहित्य के अंतर्गत होता है । साहित्यिक की वैयक्तिक अभिरुचियां और जीवन-विषयक मान्यताएं इस कार्य में उसकी सहायता करती हैं । वह अंतर्जगत् के संवेगों को कला-रूप प्रदान करता है । अतएव साहित्य का मूल्य उसी में अंतर्हित होता है । उसे इतर विषयों या सामाजिक आवश्यकताओं के संदर्भ में परीक्षित ही नहीं किया जा सकता । अंततः यह परीक्षण साहित्येतर मूल्यांकन या असाहित्यिक निर्णय मात्र होगा । मेरी तजवीज यह है कि यदि किसी रचना में जीवनोपयोगी उपकरण मौजूद हों तो उन्हें निरूपित अवश्य किया जाए, जैसे कबीर, तुलसीदास या मैथिलीशरण का काव्य, पर उनको साहित्य का मुख्य और आवश्यक मूल्य न सिद्ध किया जाए । यदि किसी रचना की सौंदर्य-सृष्टि ही अपूर्व हो, तो उसी को अनिवार्य मूल्य माना जाए और कृति विशेषकी परीक्षा भी उसी आधार पर की जाए, जैसे कालिदास, सूरदास या रवीन्द्रनाथ का काव्य, जो कहीं भी उपादेयता के कारण महान नहीं है । इन्हें साहित्य का अंतर्मूल्य और बहिर्मूल्य भी कहा जा सकेगा । बहिर्मूल्य का निदर्शन आलोचना का प्रासंगिककार्य है और अंतर्मूल्य का का विवेचन उसका अपना कार्य । जैसे मानव-रूप में कोई बड़ा व्यक्ति है और कोई छोटा तथा प्रत्यक्ष जीवन में कोई धनवान है, कोई पहलवान है और कोई दीन-दुखी । इसी प्रकार कोई साहित्यिक कृति महान है और कोई साधारण तथा कोई रचना उपादेय है, कोई सशक्त और कोई निराशाभरी । वस्तुतः साहित्य का मूल्य रचना के सौंदर्य की सम्यक् विवेचना से संबंधित है । कोई कृति रसात्मक है या नहीं अथवा सफल रचना है या नहीं, यह साहित्यिक प्रश्न है, वैसे ही जैसे क्या कोई महामानव है या लघु मानव, यही मानव-परीक्षा की एकमात्र कसौटी है । पर साहित्य उपादेय है, सशक्त है, गति-प्रेरक है किंवा नहीं, यह साहित्य का अपना निकष नहीं है, जैसे मानव होना और बात है और पहलवान, धनवान या दीन-दुखी होना और बात । मैं समझता हूं कि साहित्य का अंतर्मूल्य ही उसका अपना मूल्य है, वही उसकी वास्तविक परीक्षा का मानदंड है । उसका बहिर्मूल्य साहित्यिक इजाफा है, पर वह कृति विशेष का मूल चारुत्व नहीं, जैसे खलवंदना या पातिव्रत का उपदेश रामचरित मानस का कलात्मक वैशिट्य नहीं है, क्योंकि उसका मूल सौंदर्य तो रामके चारित्य में ही सुस्पष्ट होता है।

अस्तु, प्रत्येक युग का साहित्य नवीनता और मौलिकता से संयुक्त होता है, पर वह उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही रचा जाए, यह सर्जन-सीमा अनुल्लंघनीय नहीं है । कला कला के लिए हो या कला जीवन के लिए, यह प्रश्न भी इसी संदर्भ में उपस्थित होता है । कला जीवन से, उसके हास-अश्रु से, उसके विचार और विवेक से, उसकी

सक्रियता और सुन्दरता से अपने उपकरण एकत्र करती है। रचनाकार के अंतःकरण की प्रयोगशाला में उसका रसायन तैयार होता है और वह साहित्य-रूप में ढलकर कला-वस्तु बन जाता है। जीवन उसका अर्थ है, इति नहीं। अतएव जीवन से कला संबंधित अवश्य रहती है, पर उसकी समस्याओं को हल करने के लिए ही उसकी रचना नहीं होती। उसका उपयोग नहीं, उपभोग अधिक सूक्ष्म, अधिक मानवीय और अधिक संवेद्य होता है। वह उपयोग की वस्तु न होकर सौन्दर्य का संस्कार या रस का आस्वादन है। वह हमें सुसंस्कृत और सहृदय मानव बनाती है। क्या यह पर्याप्त महत्व का कार्य नहीं ? क्या उसे सामाजिक कार्यक्रमों, आर्थिक योजनाओं और राजनीतिक आदेशों के प्रचार का कार्य भी करना चाहिए ? मेरी स्पष्ट धारणा है कि यह साहित्य का अपना कार्य नहीं है, बल्कि उसे बहिर्जीवन का अनुचर बना लेने का मात्र षड़यंत्र है। यदि साहित्य में जीवन के काम का कुछ न हुआ तो कोई क्यों चिन्तित हो ? ऐसा साहित्य कहीं संरक्षित नहीं रह पाता। वह कदाचित् साहित्य होता भी नहीं ।

स्पष्टतः साहित्येतर विषयों को हमने साहित्य का मौलिक तत्व स्वीकार नहीं किया है। जीवन के मूल्य साहित्य में चरितार्थता पा सकते हैं, वे अपनी सार्थकता भी सिद्ध कर सकते हैं, पर वे साहित्य के स्वतंत्र अवयव नहीं हैं। वे साहित्य की श्रीवृद्धि करें या उसे हत-सौंदर्य बनाएं, उनका महत्व सामाजिक उपयोगिता से सम्बन्धित है साहित्यिक अनिवार्यता से नहीं। इसी कारण सत्प्रभाव-संबंधी साहित्य-मूल्य को हमें समाजशास्त्रीय किंवा मनोवैज्ञानिक विवेचन से ही संबंधित रखना चाहिए।

प्रत्येक रचना प्रभावपूर्ण होने पर ही सफल कृति हो पाती है। यह प्रभाव क्या है और इसका स्वरूप कैसा है ? साहित्य की परीक्षा करते समय हमें प्रभाव को भले-बुरे या सत्-असत् से कहीं अधिक सूक्ष्म धरातल पर परखना होगा। प्रभाव की कई कोटियां हो सकती हैं। यदि कोई रचना अपने सौंदर्य से हमें आह्लादित कर दे या रसमग्न करके आनंदित कर दे तो यहीं वह प्रभाव-पूर्ण मानी जा सकेगी। ऐसी रचना को सुन्दर, सरस या सफल कृति कहा जा सकेगा। साहित्य आनन्द का विषय है और आनन्द मनोमय व्यापार है। वह आन्तरिक चेतना है, जो हमारे अंतर्जगत् को उदात्त भूमिका पर अधिष्ठित करती है। इस कारण साहित्य का वास्तविक मूल्य आनन्द ही है, जो चेतन अनुभूति का अमूर्त व्यापार है। इसे चाहे भाव-समाधि कहाजाए, आवेगों में संतुलन और संगति स्थापित करना माना जाए अथवा अंतःसंस्कार या परिष्कार समझा जाए, जो क्रमशः आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण के परिणाम हैं, पर यही साहित्य का एकमेव मूल्य है। आनंद की उपलब्धि ही नहीं, साधनामी जीवन का महान लक्ष्य है। उसकी संप्राप्ति क्या किसी छोटे-मोटे उपयोग की मुखापेक्षिणी समझी जाएगी। आनन्द संभवतः अपने आप में अखंड है और वह चेतन सत्य है, अतएव उसकी कोटियां नहीं होतीं। दिक् और काल की सीमा के अंतर्गत यही ऐसा तत्व है, जो अपरिबद्ध है, क्योंकि साहित्यजन्य स्वानुभूत

आनन्द की चेतना सबको सर्वत्र सुलभ है। मुझे आनन्द की अवस्था तल्लीनता द्वारा समुपलब्ध मानसिक स्थिरता का पर्याय ज्ञात होती है। यह स्थिति कितने समय तक रह पाती है, यह दूसरा प्रश्न है, जिसका संबंध न केवल हमारे मनोयोग से है, बल्कि रचना की श्रेष्ठता से भी संबंधित है। यह आनन्द साहित्य के प्रभाव की प्रमुख और प्रथम कोटि है। उसकी दूसरी या मध्यम कोटि में हम वर्ण्य-विषय तक ही जा पाते हैं और रचना के आशय को अच्छा या बुरा समझने लगते हैं। इस प्रभाव की तीसरी या निम्नस्तरीय कोटि मात्र दिल-बहलाव है, जो ऊब मिटाने या समय काटने का साधन है। प्रभाव की दूसरी और तीसरी कोटियों के अंतर्गत साहित्य को व्यावसायिक मूल्यों से आक्रान्त किया जाता है। आशय यह है कि साहित्य का मूल्य आनन्द है, मात्र गहरा या छिछला प्रभाव नहीं। प्रभाव को तब मूल्यवान् समझना चाहिए, जब वह इतना तीव्र जान पड़े कि आनंदमय कोश तक बरबस हमारा मानसिक उत्कर्ष कर दे। क्या मन को उत्कर्षित करने वाला साहित्य किसी नीति, उपदेश, आदर्श या मत को प्रकट करने के लिये बाध्य किया जाए? यह साहित्य के मर्म को सामाजिक स्तर पर उतारने का उपक्रम अवश्य है, जिसे आनन्द की सिद्धावस्था के समकक्ष नहीं समझना चाहिये। आनंद की सर्वोच्च कोटि को मानव-जीवन में समदिक् प्रसार भी मिल सके तो कोई हानि नहीं है, यह मानवतावादी विचारणा का तकाजा भी है, पर तत्त्वतः आनन्द न लाभ है, न हानि; न अच्छा है, न बुरा। वह नीति-निरपेक्ष ही नहीं है, जीवन की समस्त साधनाओं का साध्य भी है। अतएव साहित्य का स्थायी और तात्त्विक मूल्य आनन्द ही है। साहित्य का प्रभाव इसी की संसृष्टि करता है। अतः प्रभाव को स्वतंत्र साहित्य-मूल्य स्वीकार नहीं किया जा सकेगा। उसे सामाजिक मूल्य समझना चाहिए, साहित्यिक मूल्य नहीं। वह साहित्य के कारखाने का बाय-प्राडक्ट या अतिरिक्त उत्पादन है।

आदर्शवादी प्रवृत्तियां मंगल-विधायिनी समझी जाती हैं, अतएव वे कलात्मक बोध के प्रत्येक स्तर पर नैतिक प्रभाव भी डालती हैं। यथार्थवादी रचना-कार्य पर संभवतः नैतिकता का सम्यक् आरोप सर्वत्र संभव नहीं होता। इसी कारण प्रभाव-क्षमता को आनंदेतर मूल्य माना जाने लगा। कलात्मक उत्कर्ष का एक मात्र आधार है मानव-जीवन का सत्य। सत्य का साहित्यिक प्रत्यक्षीकरण सुन्दर होता है, पर वह शिवत्व से मंडित भी हो, यह अतिरिक्त अपेक्षा है। साहित्य का वस्तु-रूप या कृति विशेष का उपलब्ध स्वरूप ही सौंदर्य है। उसी का संवेद्य स्वरूप रस-बोध या आनंदानुभव है। यह आनंद ही साहित्य की प्रकृत सिद्धि है, जो किसी भी दृष्टि से अशिव वस्तु नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में शिवत्व का स्थूल विवरण निष्प्रयोजन सिद्ध होता है। वह साहित्य का मूल धर्म नहीं है। साहित्य सांस्कृतिक चेतना की सुन्दर परिणति ही है, अतएव वह अकल्याणकर रचना-कार्य है ही नहीं। सत्य को देखने की दृष्टि चाहे आदर्शनिष्ठ हो, चाहे यथार्थवादी तथा प्रत्येक विचार-सरणी का जो भी संदेश या दर्शन हो, अंततः वह सौंदर्य के अभिव्यक्त रूप में अंतर्मुक्त हो ही जाता है, अतएव उसे पृथक् रूप से काव्य-न्याय का मूल्य, प्रभाव का

मूल्य, प्रचार का मूल्य, या नीति का मूल्य, मानने की आवश्यकता नहीं है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि नीति का विधान काम्य वस्तु है, पर वह साहित्य का अपरिहार्य उपकरण नहीं है। नैतिक मनोदृष्टि या आशय जब कहीं सर्वाधिक महत्व प्राप्त कर लेता है, तब प्रायः कलात्मक सौंदर्य का ह्रास ही होता है। स्थायी मूल्यों का निर्धारण करते समय हमें लोक-मंगल की चिन्ता करने की अपेक्षा साहित्यिक उत्कर्षापकर्ष की धारणा बनानी चाहिए और आनंद की साधना का प्रकृत मार्ग भी यही है।

रस-दशा साहित्य की आनंद-विधायिनी शक्ति का परिणाम ही तो है, पर रस का विवेचन करने के लिये हमें रचना-विशेष के वस्तु-रूप की परीक्षा भी करनी होती है। यह वस्तु रूप ही सौंदर्य है, जिसे औदात्य या आदर्श अथवा सौष्ठव या लालित्य के आधार पर खोजा जाता है। तुलनाओं के द्वारा भी कृति विशेष की महत्ता या सामान्यता परीक्षित होती है। यह सौंदर्य अभिव्यंग्य और अभिव्यंजना, वस्तु और शैली अथवा अनुभूति और अभिव्यक्ति के विश्लेषण और विवेचन के द्वारा निरूपित किया जाता है। अतएव आनंद-मूल्य का साहित्यिक आधार रस है, जिसे विषय-वस्तु और रचना-शिल्प की कक्षाओं में परीक्षित करके और इनके रूपायित सौंदर्य को स्पष्ट करके विवृत किया जाता है। विषय-वस्तु और रचना-शैली का आशय है अभिव्यक्ति की संगति। भाषा, अलंकार, शैली, टेक्नीक या शिल्प आदि रचना-तत्वों और विषय-वस्तु या कवि के भाव-बोध का सम्यक् संतुलन, समंजन या संगति कलात्मक सौंदर्य को ही रूपायित करती हैं। अतएव वस्तु-मूल्य और शैली-मूल्य दोनों ही सौंदर्य-मूल्य के साधक हैं, जिनका महत्व पारस्परिक संतुलन में है और जिनका सापेक्षिक मूल्य है, स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। अतएव साहित्य का स्थायी या सर्वकालिक मूल्य मात्र आनन्द है, जो साहित्य के सौन्दर्य-रूप की आस्वाद्य संवेदना का परिणाम है। यही साहित्य का अंतर्मूल्य है।

साहित्य के सृजन और उसके आस्वादन की प्रक्रियाएं अमूर्त हैं, मनोगत सत्य हैं, पर साहित्य की सृष्टि मूर्त, प्रत्यक्ष या वस्तु रूप में होती है। अतएव साहित्य की मूल प्रक्रिया है अरूप संवेगों को रूप देना, मूर्त या प्रत्यक्ष कर देना। इसीलिए कलाएं रूपवती होती हैं। बिंब-विधान, रूप-योजना, चित्रण-कला, या अलंकृति आदि का महत्व भी इसी संदर्भ में परीक्षित होता है। यही कल्पना का वह चमत्कार है, जो मनोगत सत्य को सौंदर्य-वस्तु के रूप में प्रत्यक्ष करता है। कल्पना के द्वारा अलंकार्य का सौंदर्य स्पष्ट होता है और वर्ण्य को व्यंग्य बनाया जाता है। कल्पना रचना-कार्य का अनिवार्य लक्षण है। विचार, अनुभूति और कल्पना सौंदर्य के अवयव हैं, अतएव वे स्वतंत्र-मूल्य नहीं हैं, रस-परिपाक के सहयोगी उपकरण हैं।

निष्कर्ष यह है कि साहित्य-वस्तु का सौंदर्य अथवा उस वस्तु का अनुभवगम्य रस ही वह मूल्य तत्व है, जो आनन्द-मूल्य का विधायक है। नवीनता और मौलिकता साहित्य

की अनिवार्य विशेषतायें हैं और इन्हीं से उसकी युग-सापेक्ष स्थिति स्पष्ट होती है। इन्हें ही स्थायी और युगीन अथवा स्थिर और सापेक्ष मूल्यों के रूप में विभक्त करके परीक्षित किया गया है। निश्चय ही मात्र नवीनता या मौलिकता ही साहित्य के सर्वतंत्र मूल्य नहीं हैं। आनन्द के मूल्य से सुसम्बद्ध होकर ही वे कृतकार्य हो पाते हैं, अर्थात् वे सहकारी मूल्य हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सर्वोपरि मूल्य साहित्य की आनंद-प्रदायिनी शक्ति है। समाजशास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से भी साहित्य की रसवत्ता या प्रभाव-क्षमता की पुष्टि की जा सकती है। साहित्य के लिए आनन्द के अतिरिक्त और उससे बड़े और किसी मूल्य की धारणा कहीं बनाई नहीं गई है। साहित्य के अंतर्गत जीवन के सत्य को अन्तर्जगत् में भोग कर सौंदर्य-रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। अपने अंतर्जगत् में हम जब-जब इस सौंदर्य का समुचित अनुभव कर पाते हैं, तब-तब साहित्य की आनन्दोपलब्धि या उसका रस-ग्रहण करते हैं। यह कार्य यदि अव्याहत हुआ तो साहित्य का मूल्य चरितार्थ हो जाता है, अन्यथा वह कलात्मक अनौचित्य या साहित्यिक असामर्थ्य का पर्याय बन जाता है। अस्तु, साहित्य मात्र का मूल्य है आनन्द और कृति मात्र का मूल्य है नवीनता, मौलिकता और रसवता। अवश्य ही नवीनता का अभाव, अपहरण का कौशल और पिष्टपेषण की प्रवृत्ति कृति की प्राणवत्ता को ही विनष्ट नहीं करती, वरन् उसकी सौंदर्य-सत्ता को भी कुरूप बनाती है।

३
कविता

कविता की कोई सर्वमान्य परिभाषा आज तक नहीं बन पाई । प्रत्येक साहित्य-प्रेमी यह जानता है कि किस रचना को कविता कहा जाए और किसे नहीं । पर प्रत्येक साहित्य-चिन्तक अपने-अपने दृष्टिकोण से कविता का स्वरूप स्पष्ट करता है। जिस भांति मानव क्या है, यह हम सभी जानते हैं, पर ज्ञान की प्रत्येक शाखा मानव की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ बताती है, उसी भांति कविता के सम्बन्ध में भी अलग-अलग धारणाएँ प्रकट की जाती हैं। इस उलझन में पड़कर एक आचार्य ने यह कह दिया कि कवि की रचना ही कविता है। यह कथन सदोष है, क्योंकि इसी से दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है कि तब कवि किसे कहा जाए ।

कविता कवि की कृति, सृष्टि या रचना है, इस सम्बन्ध में कहीं कोई शंकित नहीं है। वह न यान्त्रिक कृति है, न सामूहिक रचना-कार्य । वह व्यक्तिविशेष के द्वारा किया गया अभिव्यक्ति-व्यापार है, जिसकी रचना-प्रक्रिया असाधारण और जटिल है। असाधारण इसलिए है कि कविता उन अनुभूतियों को व्यक्त कर देती है जो साधारण मानव के अनुभव की वस्तु तो हैं, पर केवल कवि ही जिन्हें शब्द-बद्ध कर पाता है। यह जटिल इसलिए है कि कवि किसी निश्चित पद्धति के अनुसार कविता की सृष्टि नहीं करता । कविता किसी भी नियम या विधान से स्वतंत्र उसके अन्तर्जगत या भावलोक की आवश्यकता या विवशता को वाणी देती है। अतएव कविता को आत्माभिव्यक्ति या व्यक्तिविशेष की अंतश्चेतना का प्रकटीकरण कहा जा सकता है। उसकी रचना-प्रक्रिया कवि के वैयक्तिक मनोव्यापारों पर निर्भर करती है, अतएव वह उत्पादन नहीं है। आशय यह है कि कविता रचना है, उत्पादन नहीं ।

कवि को केंद्र में रखने पर कविता आत्माभिव्यक्ति हो जाती है, पर युग-जीवन को महत्व देते ही वह लोक-चेतना की वाहक बन जाती है। मानव मात्र पर यदि दृष्टि स्थिर की जाय तो वही कविता भाव-संवेदनों का सार्वजनीन रूप उपस्थित करती है। आशय यह है कि कविता तत्वतः कवि की आत्माभिव्यक्ति होती है, पर वही कभी युग-वाणी हो जाती है और कभी सार्वभौम मानव-जीवन की थाती। कवि का व्यक्तित्व कितना महान् है, उसकी प्रतिभा कितनी प्रखर है और उसकी अनुभूतियों में कितनी शक्ति है? इन्हीं प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर कृति विशेष को अल्पजीवी, दीर्घजीवी या विश्वजनीन ही नहीं कहा जा सकता, बल्कि उसकी महाप्राणता या अल्पप्राणता का निर्णय भी किया जा सकता है।

अभी तक कविता को रचना के रूप में देखा गया है, पर उसे सामाजिक दृष्टि से कला-वस्तु के रूप में भी अवश्य देखना चाहिए। कविता सामाजिक जीवन में उसकी संस्कृति का उपादान बनकर अपने अस्तित्व को सार्थकता देती है। उसके द्वारा मानव-मन का संस्कार होता है, चित्तवृत्तियाँ परिष्कृत होती हैं और अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। प्रत्यक्ष अनुभव सुखदुखात्मक होते हैं पर कविता के द्वारा प्रदत्त परोक्ष अनुभव अपने-पराये के भेद-भाव से रहित होने के कारण आनन्दमय होते हैं। उनमें मन को तन्मय करने की शक्ति और आत्म-विस्तार कर देने की सामर्थ्य होती है। जो कविता या कलाकृति इस प्रकार के सौन्दर्य संस्कार उत्पन्न करने में जितनी सफल होती है, वह उतनी ही महान् रचना समझी जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसी रचना में नीति, उपदेश या उपयोगिता के तत्व नियोजित हों। कृति विशेष की आह्लादकता ही उसका सबसे बड़ा गुण होता है। इतर प्रयोजन स्थूल जीवन-दृष्टि या उथली आदर्श-निष्ठा के परिणाम होते हैं। कविता का वास्तविक सौंदर्य तो उसकी रसवत्ता में ही निहित है। जहाँ कहीं कविता आदेश-निर्देश देती है अथवा प्रचार या उपयोगिता के उद्देश्य को अपनाती है, वहाँ वह अपनी आनंदविधायिनी शक्ति को लोकानुवर्तिनी बना देती है, अर्थात् लोकप्रियता के मूल्य पर अपनी स्वायत्त सत्ता को समर्पित कर देती है।

मनुष्य का भाव-जगत् वस्तु-जगत् के निरन्तर सम्पर्क में रहता है। वस्तु-जगत् और मानव-व्यक्तित्व में निरन्तर घात-प्रतिघात होता रहता है। जड़ और चेतन सृष्टि अथवा समग्र प्रकृति का कोई भी अंश अनुभव का विषय हो सकता है। कवि की भाव-दृष्टि के अनुरूप ही काव्य-वस्तु अतिशय विराट् और अत्यंत संकीर्ण दोनों हो सकती है। विराट् आध्यात्मिक सत्ता से लेकर संकीर्ण विषय-वस्तु तक सभी में मनोगतियों को संचालित करने की क्षमता होती है। तात्पर्य यह है कि मानव अपने संकीर्ण या व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृति के विस्तृत या संकुचित सौंदर्य के प्रभावों को ग्रहण करता है। प्रस्तर खंड से लेकर सर्वातिशयी चेतना तक उसकी

अनुभूति का कार्यक्षेत्र प्रसारित हो सकता है। कभी वह अपनी आत्मचेतना की ही व्याप्ति समस्त ब्रह्माण्ड में देखता है और कभी 'चूड़ी का एक टुकड़ा' ही उसे भाव-विभोर कर देता है। इसी कारण कविता की विषय-वस्तु की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। मानव-मात्र की भाँति कवि भी सृष्टि के सम्पूर्ण प्रसार से सम्बद्ध होता है और उसकी अनुभूतियाँ भी तदनुरूप बिम्बों, चित्रों या वर्णनों के रूप में प्रकट होती हैं। कवि की यह अतिरिक्त विशेषता भी है कि वह वस्तु-जगत् में ही विचरण नहीं करता, बल्कि वह कल्पना-लोक में उड़ानें भरता है, विचारों की गहराइयों की थाह लेता है और आध्यात्मिक ऊँचाइयों को स्पर्श करता है। इसी कारण उसकी रचना में नित्य नये सौंदर्य की अभिव्यक्ति हुआ करती है। प्रत्येक कवि की मानसिक प्रक्रिया एक जैसी नहीं होती। इसलिए कविता की प्रत्येक सीपी में अभिनव वर्णच्छटा की भाव-प्रतिमाओं के मुक्ताफल चित्रित हुआ करते हैं। एक ही विषय पर रची जाने पर भी प्रत्येक कला-कृति अनुकृति मात्र नहीं होती है। इसी कारण वह नवोन्मेषमयी उद्भावना है।

कविता भावलोक का संप्रेषण या उसकी अभिव्यक्ति है। चित्र, मूर्ति या वास्तुकला माध्यम की दृष्टि से कविता संगीत से पृथक होती है। चित्र या मूर्ति का माध्यम स्थान के अवकाश को घेरता है, पर कविता या संगीत का माध्यम समय के विस्तार में प्रसारित होता है। स्थान-सापेक्ष होने के कारण पहले प्रकार की कला का आधार मूर्त या प्रत्यक्ष होता है, पर समय-सापेक्ष होने के कारण दूसरे प्रकार की कला सूक्ष्मतर आधार को अपनाती है। संगीत का आधार ध्वनि है और कविता का आधार अर्थ। संगीत के लिये शब्द-साधना अनिवार्य नहीं है, उसके लिए स्वर की सत्ता ही पर्याप्त है। पर कविता के लिये शब्द की सत्ता अनिवार्य हुआ करती है। वे शब्द ही कविता का माध्यम बनते हैं, जो सार्थक हों अर्थात् कविता सार्थक अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक प्रकार की कला में स्थिर या गतिशील मानस-छवियाँ ही चित्रित होती हैं, अतएव वे सभी सुन्दर होती हैं। प्रत्यक्ष जीवन द्वन्द्वपूर्ण या सुखदुखात्मक है, अतएव उसमें सुन्दर और असुन्दर की स्थिति विद्यमान है, किन्तु कला-सृष्टि में इसी का अप्रत्यक्ष विधान होता है, अतएव कला सुन्दर होती है अर्थात् सरस होती है। कलाकार का अंतर्जगत् जीवन के नाना प्रभावों को ग्रहण करता है और अपने विशेषत्व के आधार पर उनकी अर्थ-व्यक्ति करता है। यह अर्थ-व्यक्ति ही कला का सौंदर्य या रसवत्ता समझी जाती है। कलाकृति का आस्वादन उसके वस्तुरूप को आह्लादकता प्रदान करता है। प्रत्येक कला-कृति सुन्दर या सरस होती है, अथवा वह कला-कृति नहीं होती। प्रत्येक कला की अपनी-अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम की सीमाएँ होती हैं, अतएव वे सभी आत्माभिव्यक्ति होती हैं, पर उनमें परस्पर तर-तम का निर्णय मात्र माध्यम के आधार पर नहीं किया जा सकता। स्पष्टतः कलाकृति की श्रेष्ठता की माप रस या सौंदर्य की अभिव्यंजना है, मात्र रूप, शब्द या चित्रण नहीं।

इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकेगा कि कविता का मूल तत्त्व है अर्थ या कवि का भाव-लोक, जिसे शब्दों के माध्यम से अभिव्यंजित किया जाता है। केवल तथ्य-निरूपण करना या मन की बात प्रकट कर देना कविता नहीं है, जैसे—मैं नाराज हूँ, वह उत्साहित है, तू शोक-मग्न है या वे प्रेम कर रहे हैं। अपनी अनुभूतियों को कवि अभिव्यंजित करता है। आशय यह है कि शब्द अर्थ का संकेत प्रस्तुत करते हैं। विज्ञान और शास्त्र में भाषा का निश्चितार्थ ग्रहण किया जाता है, पर साहित्य में निश्चित अर्थ गौण हो जाता है। कविता में शब्दों के अर्थ का माध्यम भाव-लोक की पुनर्सृष्टि करता है। इसीलिए कविता रचना या सर्जना है और वह मात्र बुद्धि-गम्य विषय या वस्तु नहीं है। उसका आनन्द इसी कारण सभी सहृदय उठा पाते हैं। यदि कोई बुद्धिजीवी सहृदय नहीं है तो उसके लिए कविता शब्द-जाल ही रह जाती है, उसके मन पर प्रभाव नहीं डाल पाती।

यहाँ अर्थ की प्रधानता पर बल दिया गया है, पर शब्द और अर्थ दोनों इतने अविभाज्य हैं कि उनमें भेद करना कठिन हो जाता है। 'गिरा-अर्थ जल-बीचि सम, कहि-यत भिन्न न भिन्न'। हमारा तात्पर्य यही है कि कविता शब्दबद्ध वस्तु है अवश्य, पर वह तत्त्वतः कवि के अंतर्जगत् या भावलोक की सृष्टि होती है। केवल भाषाधिकार के बल पर कोई भाव-शून्य व्यक्ति कवि हो ही नहीं सकता। कविता को जब वस्तु रूप में देखा-परखा जाता है, तब यही कहा जा सकता है कि 'रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्द ही काव्य हैं'।

शब्द सत्ता के आधार पर ही कविता के अभिव्यक्ति-सौंदर्य को स्पष्ट किया जाता है। इसे ही कविता का कला-पक्ष या रचना-शैली कहा जाता है। इसी के अंतर्गत काव्य-रूप, शिल्प या रचना-विधान, भाषा-शैली, छन्द या लय, अलंकार-योजना, उक्ति-सौंदर्य, रीति, गुण और वक्रोक्ति आदि की स्थिति मानी जाती है। यहाँ कविता के बाह्य रूप या रचना-सौंदर्य को अर्थ-व्यक्ति, भावाभिव्यंजना अथवा शब्द-संयोजन का पर्याय समझना चाहिए। यह कविता का स्थूल या बहिरंग तत्त्व है।

कविता का सूक्ष्म या अंतरंग तत्त्व क्या है? बहिर्मुखी इन्द्रिय-संवेदनों से लेकर गहनतर मानसिक भाव-चेतना तक इसका विस्तार दिखाई देता है। इसी कारण एक ही विषय की प्रत्येक कविता एक जैसी नहीं होती। मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया विचारात्मक, भावात्मक या कल्पनाशील हुआ करती है। हमारा अंतर्जगत् या भावलोक अत्यंत रहस्यपूर्ण और अतिशय विशद होता है। कभी हम ोच-विचार करते हैं, कभी भावाभिभूत होते हैं और कभी वस्तुजगत् के प्रभावों को कल्पनाशील वृत्ति से अपनाते हैं। हमारी भाव-सत्ता सक्रिय होकर यहाँ क्रियाशील नहीं होती, जैसे

कोई क्रुद्ध होकर लड़ने-झगड़ने लगे। यह सक्रियता मनोमय होती है, इसीलिए कति-पय विचारक कविता को आध्यात्मिक वस्तु मानते हैं। भाव, विचार और कल्पना के तत्त्व कविता में एकांगी प्रसार नहीं पाते। उनकी मिली-जुली अभिव्यक्ति ही होती है। कभी विचार तत्त्व की प्रमुखता होने पर कोई भी रचयिता दार्शनिक कवि हो जाता है और कभी भाव या राग तत्त्व का प्राधान्य होने पर वह भावुक कवि के रूप में ख्यात होता है। कल्पना की अतिशयता के कारण कविता में नाना रूपों, चित्रों या बिम्बों का विधान होने लगता है। कविता के बहिरंग तत्त्व शैली को प्रधानता देने वाले कवि का उदाहरण केशवदास हैं, विचार तत्त्व को प्रमुखता देनेवाले कवियों में कबीर प्रधान हैं, भाव या अनुभूति तत्त्व को महत्त्व देनेवाले कवियों में सूरदास उल्लेखनीय हैं तथा कल्पना तत्त्व का शासन स्वीकार करने वालों में सुमित्रानंदन पंत और अन्य स्वच्छंदतावादी कवि परिगणित होते हैं। यह सब भाव-तत्त्व का प्रसार है। अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षा कविता में भाव-सत्ता का प्राधान्य होता है। हमारी भावनाएँ लहरों की तरह उठती, बढ़ती और विलीन होती रहती है। उनमें गति होती है। कवि इसी आंतरिक गति के सामंजस्य में अपनी रचना को लयात्मक रूप देता है। गद्य-रचना में यह लयात्मकता नहीं होती, उसमें भाव प्रवाह होता है। अतएव गद्य की अपेक्षा कविता में भाव-व्यंजना का आधिक्य ही नहीं होता, बल्कि उसकी अनिवार्य स्थिति भी मानी जाती है। क्या नई कविता कविता नहीं है, क्योंकि वह लयात्मक नहीं होती। इसका उत्तर यह है कि नई कविता के पक्षधर भी उसमें अर्थ की लय का विधान आवश्यक मानते हैं और पूर्ववर्ती मुक्त छन्द की कविता में शब्द की लय का निर्वाह होता ही रहा है। अवश्य ही पद्यात्मकता कविता का अपरिहार्य लक्षण नहीं है, पर लया-त्मकता है। इसी से सिद्ध होता है कि कविता में भाव की सत्ता सर्वोपरि है।

जिसे कविता का भाव-पक्ष कहा जाता है, उसके अन्तर्गत विचार, भाव और कल्पना की स्थिति रहती ही है। विचार-शून्य हो जाने पर कविता प्रलाप मात्र रह जाती है। वह सुसंस्कृत मन की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। अतएव विचार तत्त्व का महत्त्व निर्विवाद है। हमारे यहाँ इसी लक्ष्य से औचित्य सिद्धांत को स्वीकृत किया गया है। भाव के अभाव में कविता कविता नहीं हो पाती। वह शास्त्र हो जाय या ज्ञान की अभिव्यक्ति समझी जाए, पर वह रचना नहीं रह जाती। भाव की प्रमुखता इसलिए है कि जीवनानुभूति मूलतः भावात्मक होती है और कविता का जो प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है, या उसकी जो मर्मस्पर्शिता होती है, वह मुख्यतः भाव-संवेदनों को ही जगाती है। सौंदर्य की अनुभूति होती है और रस का आस्वादन किया जाता है। यह कार्य हमारी भाव-सत्ता ही करती है। इसी को लक्ष्य में रखकर काव्य-विवेचन के सिद्धांतों को पश्चिम में सौंदर्य-शास्त्र कहा गया और हमारे यहाँ उसे रस, ध्वनि या रस-ध्वनि माना गया। कविता को वस्तु-रूप

में देखने पर पाश्चात्य विचारकों को सौंदर्य का अभिज्ञान हुआ और उसे भाव-रूप में देखने पर भारतीय आचार्यों को रस की प्रतीति हुई। भाव ही परिपुष्ट होकर रस की स्थिति को प्राप्त करते हैं और वे ही कविता में व्यंजित होते हैं। अश्व का अर्थ है घोड़ा, इस भाँति भाव कहे नहीं जाते, इसीलिए ध्वनि या रस-ध्वनि की महत्ता है। शब्दों की अनेक शक्तियाँ होती हैं, जिनमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना मुख्य हैं। कविता को रस की व्यंजना बताकर आचार्यों ने शब्द और अर्थ की विशिष्ट भंगिमा या सौष्ठव को कविता का स्वरूप समझा है। अनुभूति और अभिव्यक्ति का अन्योन्याश्रय ही नहीं, उनका चन्द्र और चन्द्रिका की भाँति अविभाज्य सम्बन्ध ही वस्तुतः कविता का अपना स्वरूप है। जहाँ कहीं यह सम्बन्ध सुस्थिर नहीं रह पाता, वहाँ कविता की भाव-व्यंजना सदोष हो जाती है, अथवा शब्दों का समूह रचना का बोझ बन जाता है। कल्पना का कार्य क्या है? भावों का रूप नहीं होता, विचारों का आकार नहीं होता, पर कल्पना का रूप भी होता है और आकार भी। अनुभूति की सूक्ष्मता को कल्पना ही संगठित करती है और उसे संवेदनीय रूपाकार में अभिव्यक्ति देती है। तुलसीदास की भक्ति-भावना आध्यात्मिक वस्तु है, पर राम या सीता का चरित्र और रूप उसी की कल्पना-सृष्टि है। भक्ति-भावना का कोई स्थूल रूप नहीं होता, पर राम का व्यक्तित्व उसे प्रत्यक्ष कर देता है। भावलोक की बिखरी हुई और अमूर्त सामग्री को कल्पना संगठित करती हुई मूर्त स्वरूप प्रदान करती है। इसीलिए कलाओं को रूपवती कहा गया है। इसी कल्पना शक्ति के कारण कविता में अप्रस्तुत-विधान संभव होता है। चित्रण-कला भी कल्पना-शक्ति का ही प्रदेय है। कोरी कल्पना अव्यावहारिक हो जाती है, शेखचिल्ली का दिवास्वप्न बन जाती है। पर वही भाव-संवलित और चिंतननिष्ठ होकर कला बन जाती है। कल्पना के द्वारा मनुष्य अतीत और भविष्य में विचरण करता है और प्रत्यक्ष वस्तु-जगत् की सीमाओं को अतिक्रान्त कर जाता है। 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' उक्ति इसी कल्पना-शक्ति का महत्त्व ज्ञापित करती है। आशय यह है कि भाव-संवेदन विचार तत्त्व से पुष्ट होकर बुद्धिग्राह्य बनते हैं और व्यावहारिक संगति प्राप्त करते हैं तथा कल्पना तत्त्व से संयोजित होकर वे केवल प्रत्यक्ष या मूर्त ही नहीं हो पाते, वरन् वे नयनाभिराम भी हो जाते हैं। भावों को व्यवस्था और संगति देते हैं, विचार और उनमें सौंदर्य का आधान करती हैं कल्पना। तत्त्वतः भाव तत्त्व ही सर्वोपरि वस्तु है, पर वह एकांगी होकर कविता की रचना नहीं कर पाता। इसलिए समग्र भाव-लोक या कवि का अंतर्जगत् ही काव्य की विषय-वस्तु या अंतरंग तत्त्व है। कविता की स्थूल विषय-वस्तु तो प्रत्यक्ष जगत् ही समझा जाता है, पर अंतर्जगत् के अभाव में वह न कविता का विषय रह जाता है, न सौंदर्य की वस्तु।

कवि के इस भाव-लोक की प्रायः दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं। अंतर्मुख और बहिर्मुख प्रवृत्तियों के आधार पर कविता की भिन्न कोटियाँ हो जाती हैं। यदि

कोई कवि बहिर्मुख प्रवृत्ति को लिए हुए है तो उसकी रचना विषय-निष्ठ, वर्णनात्मक या बहिर्द्वन्द्वों का चित्रण करने वाली होगी। यदि वह अंतर्मुख प्रवृत्तियों का कवि है तो उसकी रचना भाव-प्रधान या अंतर्द्वन्द्वों को व्यंजित करने वाली होगी। इसी आधार पर कविता को वर्णनात्मक और गीतात्मक वर्गों में विभाजित किया जाता है। वर्णनात्मक कविता कथात्मक या विषयप्रधान होती है और गीतात्मक रचना आत्माभिव्यंजक या भावप्रधान होती है। भाव और विषय का संबंध मुख्यतः कार्य और कारण का संबंध है। यहाँ अभिप्राय यह है कि गीति-रचना में विषय गौण और भाव-प्रधान हो जाता है, क्योंकि कवि की मनोवृत्ति बाहर से भीतर की ओर बढ़ने लगती है और प्रबन्ध रचना अथवा विषयनिष्ठ कविता में भाव गौण और विषय प्रधान हो जाता है, क्योंकि कवि की मनोगति भीतर से बाहर की ओर अग्रसर हो जाती है। वस्तु और भाव में जो भी प्रधान और मुखर हो जाए, उसी के आधार पर कविता में प्रबंध और प्रगीत रचना की भिन्न शैलियां व्यवहृत होती हैं। सर्वांशतः न कहीं मनोभाव का निषेध संभव है, न कहीं विषय-वस्तु का। इसीलिए वह सदैव कविता ही होती है, चाहे महाकाव्य हो अथवा कोई लघु प्रगीत। दोनों ही रूपों में काव्यकला की संपूर्णता या समग्र सौंदर्य की विशिष्टता प्रकट होती है। कवि की प्रतिभा जिस कोटि की होगी, उसी के अनुरूप उसके द्वारा कला-रूप का ग्रहण किया जायगा।

निष्कर्ष यह है कि कविता मानव-जीवन को समग्र रूप में प्रस्तुत करती है। उसकी रचना के समय मानव-व्यक्तित्व की सभी आंतरिक शक्तियाँ सक्रिय होती हैं। उसका आस्वादन सौंदर्य का संस्कार छोड़ जाता है, मनोवृत्तियों को सान पर चढ़ाता है और समाज को सांस्कृतिक सप्राणता से संपन्न बनाता है। उसके द्वारा जीवन जीने योग्य हो जाता है, मानव यंत्र मात्र न रह कर वस्तुतः संवेदनशील मानव बन जाता है और स्वार्थान्ध मन व्यापक जीवन और विराट् प्रकृति के साथ एकात्मता का अनुभव करने की दिशा में सक्रिय हो पाता है। व्यक्ति मात्र अपनी-अपनी सीमाओं को लाँघकर संवेदना के सूत्र में सृष्टि के साथ बँध जाएँ तो यह मानव का सर्वांगीण विकास ही है और मैं समझता हूँ कि कविता ही उस काम को सबसे अधिक अच्छी तरह पूरा करती है। इसीलिए नीति, उपदेश या उपयोगिता के आदेश-निर्देश मुझे कविता के माहात्म्य को घटाने वाले उपकरण जान पड़ते हैं। कविता तो मानव-हृदय की स्वामिनी है, उसे एकांगी विचारों या प्रचलित जीवन-दृष्टियों की चेरी बनाने की समझदारी मेरी समझ में कविता के मर्म को न समझने की परिचायक है। ऐसे ही चिन्तक यह भी कह सकेंगे कि ताजमहल को धर्मशाला बना दिया जाए। उदात्त गुण को लघुता की विशेषता से संपन्न बनाने का यह उपक्रम साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में एक विकार मात्र है, किसी स्वस्थ दृष्टिकोण का परिणाम नहीं।

4

आलोचना का दार्शनिक आधार

सिद्धान्ततः यह बात प्रायः सर्व-स्वीकृत है कि किसी भी रचना की समीक्षा उसका आस्वादन करने के पश्चात् ही की जानी चाहिए, अन्यथा वह कृति की ऊपरी नाप-जोख अथवा समीक्षक के वैयक्तिक मत का प्रक्षेप मात्र हो जाएगी। साहित्य को हम वस्तुमुखी दृष्टि से देख-परख सकें, इसलिए प्राथमिक आवश्यकता इस वस्तु की है कि उसकी मर्मस्पर्शिता को पहचानें तथा उसके साथ तद्वत् होने के प्रयासी हों। यदि रचनाकार की मानसिक प्रक्रिया का अल्पाधिक भाव-संवेदन हम भी ग्रहण कर सकें तो समीक्षक का कार्य वास्तविक हो सकेगा। उस कृति के रचना-सौंदर्य का तभी यथावत् पुनर्प्रत्यक्षीकरण कराया जा सकेगा। यह कार्य इसलिए अपरिहार्य है क्योंकि रचना-सौंदर्य का उद्घाटन करने में ही समीक्षक की कृतविद्यता है। पर इसकी आंतरिक दुर्बलता यह है कि समीक्षक की रचनात्मक प्रवृत्तियां कहीं उभरने न लगें और वह प्रभावों का विवरण ही प्रस्तुत करता न रह जाए। यह समीक्षा नितांत वैयक्तिक होगी और इस आधार पर निर्भ्रांत रूप से कोई स्थिर धारणा नहीं बनाई जा सकेगी।

इसी भाँति मूल्यांकन-विषयक दूसरी कठिनाई भी प्रस्तुत होगी। समीक्षक रचना को ही स्वतंत्र वस्तु समझकर उसके विवेचन में प्रवृत्त हो सकता है तथा उसे समुचित परिप्रेक्ष्य में रखने की आवश्यकता ही न समझे। इस स्थिति में प्रायः रूपवादी समीक्षा प्रवृत्तियाँ विकसित हो जाती हैं। समीक्षक की दृष्टि कृति में ही सीमित हो जाती है और वह व्यापक जीवन तथा महान् साहित्य के मानदंडों के आधार को छोड़कर अपने कार्य में प्रवृत्त होने लगता है। फलतः उसका कार्य तकनीकी या शास्त्रीय अधिक होता है, साहित्यिक कम।

आशय स्पष्ट है कि प्रभाववादी तथा रूपवादी सीमाओं का अतिक्रमण करके ही कृति की परीक्षा की जानी चाहिए। पर इन्हें निषिद्ध समझने की प्रवृत्ति तथा वस्तुवादी होने का आग्रह अन्यान्य मार्गों का अनुसरण भी करता है। कभी रचना के स्थान पर रचनाकार प्रधान हो उठता है और उसकी जीवनी तथा विचारणा के आधार पर ही साहित्य की एकांगी परीक्षा आरंभ हो जाती है। कभी कृति के समाजशास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक पक्षों को अतिरिक्त महत्व दिया जाकर रचना के मूलभूत तत्वों की न्यूनाधिक उपेक्षा की जाने लगती है। प्रायः मनोविश्लेषण के आधार पर कभी रचना तत्व की नहीं, वल्कि उसमें संयोजित परिस्थितियों, मानसिक दशाओं या कर्म-प्रवृत्तियों की विशद् विवेचना करना समीक्षक का दायित्व समझा जाता है। साहित्य के विशिष्ट पक्षों के उद्घाटन की प्रवृत्ति के अंतर्गत् रचना के मूल सौंदर्य को अपेक्षाकृत पर्याप्त महत्व नहीं मिल पाता। ये सभी रचना-सौंदर्य के मूल्यांकन की दिशाएँ हैं, जिनमें विशेषत्व अधिक है, प्राण तत्त्व कम। मेरी धारणा यह है कि समुचित संतुलन समीक्षक की अंतर्दृष्टि की अनिवार्य विशेषता होती है। अतः अंतर्मुख और वहिर्मुख अतिरेकों से वचकर ही समीक्षक का कार्य और साहित्यिक मूल्यांकन निर्भ्रान्त हो पाता है। वैचारिक संतुलन और मनस्थितियों का प्रवृत्तिगत सामरस्य स्थिर रक्खे विना कदाचित् विश्वसनीय समीक्षा लिखी नहीं जा सकेगी।

परंपरा और युग-वोध, के आधार पर भी समीक्षाएँ लिखी जाती हैं। साहित्य को स्थायी महत्व की वस्तु समझकर उसे प्राचीन परंपराओं से संवद्ध करके देखा जाता है। प्रायः नव्यता में परंपरा का अभाव होने के कारण प्रतिकूल आलोचनाएँ लिखी जाती हैं। रचना-प्रक्रिया निरंतर विकास-शील होती है, क्योंकि वह जीवंत वस्तु है। फलतः वह परंपराओं को यथावत् ग्रहण नहीं कर पाती। वह उनका परिष्कार कर लेती है अथवा परित्याग। अतएव साहित्यिक परंपराओं को ही हम स्थिर मानदंड नहीं मान सकते। मानव-चेतना अपने परिवेश को प्रधानतः ग्रहण करती है और उसी के माध्यम से अभिव्यक्त हो पाती है। साहित्यिक प्रतिमान निरंतर वदलते रहते हैं, चाहे वे कितने ही मूल्यवान् या महत्वपूर्ण क्यों न हों। जिस युग में निष्क्रियता वढ़ जाए या ह्रासशीलता विद्यमान हो अथवा जीवन में स्थिरता आ जाए, उसमें ही परंपराएँ आयुष्मती होती हैं। जो युग उद्दाम जीवन-चेष्टा से स्पंदित हो, वह बंध कर नहीं, मुक्त होकर ही गतिशील होता है।

इसी भाँति युग-वोध भी समीक्षा का एक मात्र अवलंब नहीं वन पाता। उसके आधार पर नव्यता और लोक-प्रियता ही नहीं, युग-जीवन की वास्तविकता, उसकी चेतना की गहराई तथा सामाजिक परिस्थितियों की यथार्थता भी परीक्षित की जा सकती है। किंतु परंपराओं का निषेध उसे श्रेष्ठत्व के तत्त्वों को अपने भीतर ही देखते रहने के लिए विवश कर देता है। वह नए को ही सबकुछ मान लेता है। कदाचित् वह मानव-विकास को

वर्तमान स्थिति को ही एकमेव सत्य मानकर संकीर्ण मनो-दृष्टि अपनाने लगता है। वर्तमान का अस्तित्व हमारे लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु है, पर अंततः वह हमारी संस्कृति की विकास श्रृंखला में एक सुदृढ़ या लचकीली कड़ी ही तो है। मैं समझता हूँ कि परंपरा और युग-बोध दोनों की सीमाओं को देख परख कर की गई साहित्य-समीक्षा निस्संदेह वास्तविक और संतुलित होगी। नव्यता और परंपरा यदि एक-दूसरे के विरोध में पड़ जाएँ तो समीक्षा के मान सुस्थिर न रह पाएँ और रचनाकार पृथ्वीराज और समीक्षक चंद की भूमिका में दिखाई पड़े। इस स्थिति में स्पष्टतः समीक्षा को वैयक्तिक कार्य समझा जाएगा और उसका वस्तुगत मूल्य कम हो जाएगा।

उपर्युक्त विवेचन से आशय यही है कि समीक्षा-कार्य के अंतर्गत वस्तुगत आधार और वैचारिक संतुलन की सर्वोपरि स्थिति स्पष्ट हो पाए। इसके अभाव में समीक्षा वैयक्तिक, एकांगी या पक्ष-विशेष से संबद्ध दिखाई पड़ेगी। यह आवश्यक जान पड़ता है कि समीक्षक साहित्य का मर्मज्ञ ही न हो, वह व्यापक जीवन और उसके वैचारिक तथा सांस्कृतिक विकास का अभिज्ञान भी रखे, क्योंकि समीक्षा का मार्ग चौड़ा और सपाट नहीं है। प्रत्येक समीक्षक को अपना पथ स्वयं प्रशस्त करना पड़ता है। पंडितों के मत जो शास्त्रज्ञ हैं, पर मर्मज्ञ नहीं वास्तव में असाहित्यिक हैं और उन्हें समीक्षा नहीं समझना चाहिए। इसी भाँति अनेक साहित्येतर रुचियों के व्यक्ति विशेषतः नेता या विचारकों की टिप्पणियाँ भी समीक्षाएँ नहीं हैं। उनका सामाजिक मूल्य चाहे जो हो। निश्चय ही कोरी भावुकता नहीं, रसज्ञता और शास्त्रज्ञता की समन्वित मनःप्रक्रिया समीक्षा-कार्य के साहित्यिक उपादान हैं।

अस्तु, समीक्षा साहित्य का दर्शन है, केवल आस्वादन नहीं। यहाँ समीक्षक के व्यावहारिक कार्य की थोड़ी चर्चा हुई है और समीक्षा के प्रयोगात्मक स्वरूप को समझने का प्रयास किया गया है। सैद्धांतिक आधार ग्रहण करके ही कोई विचार या विवेचन, मत या मूल्यांकन, सौंदर्योद्घाटन या आंगिक विश्लेषण सारवान् हो पाता है। समीक्षकों ने निरन्तर अपने सिद्धांतों का स्पष्टीकरण किया है और इसी परंपरा में शास्त्र-रचनाएँ भी होती रही हैं। ये सिद्धांत या शास्त्र ही साहित्य का दर्शन प्रस्तुत करते हैं। किंतु ये स्वयं भी अपने आधार की खोज अन्यत्र करते हैं। जो समीक्षा-सिद्धान्त साहित्य के लिए सत्य समझे जाएँ, वे प्रमाण-सापेक्ष होते हैं। इन प्रमाणों का आकलन युग-विशेष की विचार-परम्पराओं से किया जाता है। साहित्य में जिस जीवन-सत्य की अपेक्षा होती है, उसी को समीक्षा भी अपना आधार बनाती है। प्रत्येक नए परिवेश में दार्शनिक विचारणा, जीवनानुभूति और साहित्यिक धारणा अपने स्वरूप का विकास या परिष्कार करती रही है तथा प्रत्येक वैचारिक विकास जीवन-दशाओं में प्रतिफलित होता हुआ बड़े पैमाने पर रद्दोबदल करता आया है। आशय यह है कि मानव-संस्कृति का विकास विचार और परिस्थिति के घात-प्रतिघात के नैरंतर्य द्वारा संघटित होता है। इसी

कारण प्रत्येक देश काल या युग-विशेष के अंतर्गत न केवल जीवन-दृष्टियाँ बदल जाती हैं, वरन् साहित्यिक मान्यताएँ, समीक्षा के सिद्धान्त, रचना की पद्धतियाँ, वर्ण्य-विषय, अभिव्यक्ति भंगिमाएँ, आदि भी संक्रमित हो जाती हैं। साहित्य के इतिहास में हमें समीक्षा के बदलते हुए मानदंड, नई-नई साहित्यिक सिद्धियाँ तथा युग-बोध के भिन्न-भिन्न आयाम दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः सत्य को जब-जब और जिस-जिस रूप में देखा, सुना, समझा और अनुभव किया जाता है, अर्थात् ग्रहण किया जाता है, तब-तब और उस-उस रूप में दर्शन, समाज और समीक्षा के शास्त्र नई-नई धारणाओं को प्रकट करते हैं, पुरानी मान्यताओं में संशोधन संभव होता है और शास्त्रों की पुनर्रचना की जाती है। नवीकरण की यह प्रवृत्ति विकासशील जीवन का लक्षण है। इसी प्रकार साहित्य का रचना-कार्य भी नई-नई उपलब्धियों से सज्जित होता रहता है। समीक्षक नई स्थापनाएँ करता है और रचनाकार नई सृष्टि। नए रचनाकार के लिए नव्य समीक्षक की अनिवार्यता सुस्पष्ट है, जो उसकी कृति का मूल चारुत्व सुस्पष्ट कर पाए। कभी रचनाकार स्वयं भी समीक्षक का दायित्व वहन करने लगता है, क्योंकि यह उसके लिए आस्था और अस्तित्व का प्रश्न होता है। निष्कर्ष यह है कि सत्य का परिदर्शन जब, जहाँ और जिस सीमा में होता है तब, वहाँ और उस सीमा में उसका प्रतिफलन सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर ही नहीं, साहित्यिक रचना, दार्शनिक चिन्तन और समीक्षा के शास्त्र पर भी होता है।

मानव-जीवन निरन्तर विकास-शील है, अतएव उसकी जीवंत चेष्टाएँ सभी क्षेत्रों में अभिव्यक्ति पाती हैं। न साहित्य जड़ है, न उसकी समीक्षा। दोनों ही दर्शनाभिमुख हैं। प्रयोगात्मक रूप से अवश्य ही रचना-कार्य और समीक्षा परस्पर एक दूसरे का मार्ग-दर्शन करती रहती हैं। समीक्षा रचना-प्रवृत्तियों का स्थिरीकरण और मूल्यांकन करती है, सिद्धान्त गढ़ती है और साहित्यिक मानों का विधान करती है। वह स्वयं भी साहित्य से प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण किया करती है। इसी भाँति साहित्य समीक्षा का मुखापेक्षी होता है, पर उसकी जड़ता या शिथिलता और आग्रह-आवेदन या निर्देश-उपदेश का प्रायः विरोधी। यह स्पष्ट है कि समीक्षा के सिद्धान्त स्थिर और जड़ीभूत नहीं हैं, न वे स्वयंसिद्ध हैं। उन्हें जीवन-दर्शन के आधार पर अपने अस्तित्व की परीक्षा देनी होती है।

दार्शनिक आधार स्थिर रखे बिना विवेकवान् जीवन संभव नहीं होता। बौद्धिक और शास्त्रीय कार्य तो उसके अभाव में आरम्भ ही नहीं हो पाते। यह दर्शन क्या है और उसका आधार कैसा है? सत्य को जानने का प्रयास या उसकी पद्धति ही दर्शन है। सत्य को हमारे यहाँ निरपेक्ष सत्य समझा गया है, अतएव हम उसे अपने-अपने सापेक्षिक अस्तित्व के आधार पर ही देख या समझ पाते हैं। कादाचित् इसी कारण अनेकानेक मतवाद, सिद्धान्त, संप्रदाय, आदि उपस्थित किए जाते रहे हैं।

सत्य को जब जिसने जिस रूप में अनुभव किया, वही उसकी सत्य की धारणा बना। यही धारणा व्यवस्थित होकर और समाज में प्रचार पाकर दार्शनिक मत बन गई। कालान्तर में इसकी विविध विचार-सरणियाँ भी प्रत्यक्ष हुईं। अतएव सत्य का शोध चिरंतन है और चिरनवीन भी। स्पष्टतः यह दुराग्रह नहीं किया जा सकता कि सत्य इसी विचार में है और वह कहीं अन्यत्र नहीं है। कदाचित् स्यादवाद की उपलब्धि ऐसी मनस्थिति में ही हुई है। सत्य को समझने के अनेक उपक्रम हुए हैं और हो रहे हैं। उन सभी में आंशिक सत्य मौजूद है। पूर्ण सत्य का अंतःप्रकाश पूर्णमानव को ही विज्ञात हो पाता है। हम सभी अपनी सामाजिक या व्यक्तिगत, बाह्य या आभ्यंतर समस्त विकास यात्राओं में गतिशील हैं। पूर्ण विकासावस्था से कदाचित् हम कोसों दूर हैं। इसी कारण सत्य का हमें आंशिक परिज्ञान ही हो पाता है। इसे हम विचार, संस्कार या परंपरा से प्राप्त करके निष्ठा या भावना, चरित्र या आचरण, शास्त्र या रचना, व्यक्ति या समाज, परिस्थिति या संस्था के माध्यम से आख्यात करते हैं। यही परोक्षतः हमारे आंतरिक और बहिर्गत सभी क्रिया-कलाओं का आधार बन जाता है। कोई-कोई अपनी प्रबुद्ध चेतना से इस सत्य के दर्शन की परीक्षा भी करता है और नई-नई मान्यताएँ उपस्थित होती हैं। इसी कारण दर्शन जीवन की समस्त सक्रियता का मूलाधार ज्ञात होता है, पर है वह सापेक्षिक ज्ञान या आंशिक सत्य ही।

दर्शन को सांस्कृतिक विकास की बौद्धिक चेतना कहा जा सकता है। इसके रूप और प्रकार क्या हैं? सत्य वस्तुतः अखंड और अविभाज्य है, किंतु जीवन के क्षेत्रों का वैविध्य उसे पृथक-पृथक संदर्भों और विषय-दृष्टियों से भी देखा करता है। इसी से ज्ञान के इतने अधिक क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं और वह परोक्ष सत्ता से लेकर वस्तु सत्य तक विस्तृत जान पड़ता है। हमने अपनी सीमाओं में उसे खंडशः देखने का प्रयास किया है। इतिहास, राजनीति और समाजशास्त्र का दर्शन होता है तथा भाषा, साहित्य और विज्ञान का दर्शन भी। व्यक्ति, परिस्थिति और युग का दर्शन होता है तथा जीव, जगत् और परमतत्व का दर्शन भी। पदार्थ जगत् और अन्तश्चेतना की द्वयता को आधार बना कर उनके सत्यासत्य का निर्णय करने वाले विविध दार्शनिक मंतव्यों को चिरकाल से ही प्रतिष्ठित किया जाता रहा है। ज्ञान तथा अज्ञान दोनों की चरमसीमा पर सभी सत्यांश एकाकार हो जाते हैं, पर विकासशील अवस्था में वे वैविध्यपूर्ण रूपों और अनेकानेक पद्धतियों के प्रकार भेदों के रूप में प्रत्यक्ष होते हैं। संभवतः यही नामरूपात्मक जगत् और मानवीय सत्ता का गतिशील सौंदर्य है। यह निष्कर्ष मतभेद की सम्भावना से रहित है कि समस्त मानवीय कर्म-प्रवृत्तियों की भांति साहित्य और उसकी समीक्षा भी दर्शन का आधार लेकर ही मूल्यवान और सार्थक सिद्ध हो पाती है।

पर जहाँ अन्यान्य क्षेत्रों का पारस्परिक अंतरावलंबन न्यूनाधिक हो सकता है, वहाँ साहित्य और उसकी समीक्षा का पारस्परिक संबंध सर्वाधिक अन्योन्याश्रित

होता है। अतएव वह संबंध अविच्छेद्य है। रचना और आलोचना दोनों पृथकत्व रखती हुई भी, एक दूसरे पर आत्म-रक्षा के निमित्त निर्भर करती है। रचना का सौंदर्य-बोध आलोचना के माध्यम से अपना वैशिष्ट्य प्रमाणित कर पाता है और आलोचना का विचार-पक्ष साहित्यिक कृतित्व में चरितार्थता पाता है। मैं समझता हूं कि सत्य के दर्शन का एक ही स्वरूप, विचार या दृष्टिकोण जब तक रचना और आलोचना दोनों का मूलवर्ती तत्त्व नहीं बन पाता, तब तक इनमें सामरस्य स्थापित नहीं होता तथा न आलोचना के सिद्धान्त रचना में व्यवहृत होते जान पड़ते हैं और न रचना-कार्य का सम्यक् मूल्यांकन आलोचना कर पाती है। अतएव दर्शन की स्थिति और उसकी धारणा संबंधी एकरूपता की विद्यमानता इन दोनों की सक्रियता का मूल कारण ज्ञात होती है।

यह दर्शन सिद्धांततः निरपेक्ष सत्य का शोध चाहे हो, पर व्यवहार में नाना विषय-वस्तुओं से संबद्ध ज्ञात होता है। इसे परमार्थ-विषयक धुरी मान लिया जाए अथवा मानव-जीवन, पदार्थ जगत् या समाज की समूह-भावना का सार-तत्त्व समझा जाए, सर्वत्र दर्शन की ही भूमिका दिखाई पड़ेगी, जो सभी प्रकार की अंतर-बाह्य स्थितियों का रहस्य जानना चाहती है। इस प्रकार दर्शन का प्रसार-क्षेत्र बड़ा व्यापक है। वह ज्ञानार्जन की अथक पिपासा है, जिसके लिए सीमाओं का कोई बंधन नहीं। पर सुविधा के लिए हम प्रायः विचार-सरणियों के आधार अपनाकर अग्रसर होते रहते हैं, जो स्वयं हमारे दृष्टिकोण का आधार बन जाती हैं। उसे हम विचार-प्रक्रिया का केंद्र, जीवन-दर्शन, रचना-कार्य की धुरी, जो चाहें अभिधेय दे सकते हैं। दृष्टि-भेद महत् वस्तु है, जो विविध मतवादों का उत्स है, पर साधारणतः सामान्य बुद्धि-भेद के कारण प्रत्येक विचार-सरणी में आंतरिक मत-मतान्तर या विचार-वैषम्य की स्थितियाँ भी आया करती हैं, जिनके कारण कोई विचार-परम्परा विकसित, विनष्ट या रूपांतरित हो जाती है। प्रगतिवाद या रस-सिद्धान्त के तथा आत्मवाद या बौद्ध-दर्शन के मत-मतांतर तथा भेदोपभेद इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। स्पष्टतः मानव-जीवन अपनी वैचारिक उपलब्धियों में भी अनेकरूपात्मक है, पर उनका स्थूल विभाजन ही संभव है। जैसे वैविध्यपूर्ण राज्य-व्यवस्थाओं को लोकतंत्र, अधिनायकतंत्र या सैनिक शासन, जैसे अनेक वर्गों में विभाजित किया जाता है, उसी भाँति विचारों का जगत् भी स्थूलरूप से पद्धतियों या तत्त्वों के आधार पर कतिपय मतवादों के रूप में प्रत्यक्ष होता है। इन्हें जीवन-द्रष्टा या सत्य का शोधक तो वस्तुतः तात्विक रूप में ग्रहण करता है, पर सामान्यतः बुद्धि-जीवी या प्रबुद्ध जन के लिए ये जीवन-दृष्टि, विचार-कोण या रचना-प्रक्रिया की धुरी का कार्य संपादित करते हैं। हम अपनी योग्यता, प्रवृत्ति और मति के अनुरूप या बाह्य प्रभावों के कारण इनमें से किसी एक विचार-धारा को अपना लेते हैं। उस संबंध में न केवल विचार-सूत्रों या सिद्धांत वाक्यों से हम चिमटे रहते हैं, वरन् अपनी-अपनी सीमा में प्रत्येक सुधीजन उनमें विस्तार, व्याख्या, संशोधन या विकास आदि,

भी किया करता है। कभी-कभी मति-भ्रम या अतिरिक्त आग्रह और आरोप के उदाहरणों का उल्कापात दृष्टिगोचर होता है। इन्हें जीवन-दृष्टियाँ या विचार-जगत् का केंद्र समझना चाहिए।

कदाचित् यह स्मरण रखा जाएगा कि अंततः ये जीवन-विषयक विविध दृष्टिकोण हैं, जिन्हें मानवीय, सामाजिक या पारमार्थिक सत्ता से संबंधित वैचारिक पद्धतियों के रूप में हम ग्रहण करते हैं। हमारी निजी या शास्त्रीय मान्यताओं में यदि सत्यांश मौजूद है, तो वह अन्यत्र भी हो सकता है। साहित्य और समीक्षा के अंतर्गत तो वैचारिक केंद्र या जीवन के दृष्टिकोण को क्रमशः न जीवन का वास्तविक स्वरूप और न कृति का स्थानापन्न तत्व समझना चाहिए। अन्यथा कृति में जीवन की चेतना को और समीक्षा में रचना के सौंदर्य को अपदस्थ करने वाले दृष्टिकोण का वैचारिक उद्भास ही सर्वोपरि वस्तु सिद्ध होगा। उस स्थिति में साहित्यिक रचना मतवाद का प्रचार करेगी और समीक्षक के पद पर केवल सफल प्रचारक प्रतिष्ठित होंगे। मैं समझता हूं कि दर्शन का आधार अतिशत सूक्ष्म और प्राणवायु की तरह स्पंदनशील होता है। वह दृष्टिकोण हो या विचारों का केंद्र, अंततः मूलवर्ती या केंद्रीय वस्तु होता है। वह नींव है, जिसे छत बनाने की समझदारी नहीं दिखानी चाहिए। यह अपेक्षित उदारता बरती जा सके और अन्यान्य विचार-पद्धतियों में भी सत्यांश होने की संभावना को अनुमित किया जा सके तो साहित्य का वास्तविक हित हो। मत या सिद्धांत के प्रति सदाशयी होकर यदि साहित्य की रचना या उसकी परीक्षा की जाए तो निस्संदेह साहित्य का वास्तविक उत्कर्ष और समीक्षा की तलस्पर्शिता का प्रवर्द्धन हो।

यहाँ हमें एक बात अब और कहनी है। यह निवेदन किया गया है कि आलोचना का दार्शनिक आधार साहित्य के दार्शनिक आधार से अभिन्न होता है। दर्शन सत्य का बोध तो है, पर वह युग-प्रवृत्ति और व्यष्टि-चेतना की सीमाओं में ही विचार या दृष्टि के रूप में प्रकाशित हो पाता है। यदि उसे जीवन का अर्थ अथवा सार या व्याख्या माना जाए तो वह जीवन की वास्तविकता और उसकी अंतर-बाह्य अवस्थाओं का समग्ररूपेण पर्याय नहीं बन सकता। हम यदि जीवन को अनुभव कर सकें और उसे अपनी दृष्टि से समझ पाएँ तो साहित्य की सत्ता भी सुरक्षित रह पाए। दर्शन जीवन को समझने का साधन भर है। जीवन का अनुभव तो कृतिकार को करना ही पड़ता है। यही जीवनानुभूति साहित्य में रूपाकार पाती है और इसके प्रति संवेदनशील हुए बिना समीक्षक का कार्य सतही हो जाता है। जीवन दर्शन की जितनी अधिक समरसता इन दोनों के साथ पायी जाएगी, उतनी ही समीक्षा के कृतकार्य होने की संभावना बढ़ जाएगी।

दर्शन की पद्धतियाँ रचना और आलोचना के कार्य में अंतर्हित रहती हैं। रस मत की व्याख्याएँ और भारतीय समीक्षा के सिद्धान्त विविध दार्शनिक मतवादों के आधार पर ही आकार पा सके हैं। भारतीय साहित्य के अंतर्गत दर्शन की भूमिका अस्पष्ट नहीं है।

हमारी सांस्कृतिक चेतना के मूल में दार्शनिक प्रक्रिया के बीज विद्यमान हैं। पाश्चात्य दर्शन भी इसी भाँति वहाँ की सांस्कृतिक चेतना, साहित्यिक सक्रियता और समीक्षा-सिद्धांतों का मूलवर्ती तत्व रहा है। प्रगतिवाद का उद्भव द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर हुआ और मानववाद का उन्मेष लोकतंत्र के अनेकत्व में एकत्व विषयक दर्शन से फ्रांस में उद्भूत। नए-नए मतवाद समीक्षा और साहित्य को अंतःप्रेरित करते रहे हैं। प्रतीकवाद किस प्रकार रहस्यवाद से अनुस्यूत है,यह अविदित तथ्य नहीं है। स्वच्छंदतावाद भी आत्मवादी साहित्य-दर्शन है, जिसने फ्रांस की राज्यक्रांति और उन्नीसवीं शती क महान् साहित्य तथा उच्च कोटि की समीक्षा प्रस्तुत की थी। भौतिक अस्तित्व को सारवान् और एकमात्र सत्य समझ लेने का परिणाम मृत्यु का आतंक है, जिसके कारण वैयक्तिक भूमिका पर अस्तित्ववाद का विकास हुआ है। यथार्थवाद से अनुस्यूत समाजशास्त्रीय अथवा मनोविश्लेषणात्मक साहित्य-सिद्धान्त पदार्थ-जगत् अथवा मनः प्रक्रिया के तत्व-दर्शन की ही उपज है। ये रचना-कार्य को प्रभावित करते रहे हैं तथा इनका समीक्षा-शास्त्र में अंतर्भाव भी किया गया है। आशा यह है कि दर्शन की पद्धतियाँ समीक्षा का आधार और साहित्य की जीवन-दृष्टि बन जाया करती हैं। विवेक आवश्यक है, चाहे वह पदार्थ-जगत् विषयक हो अथवा समाज या व्यक्ति से संबद्ध या परमार्थ सत्ता विषयक जिज्ञासा का परिणाम। इसी कारण सांस्कृतिक जीवन पर उसकी सुस्पष्ट छाप पड़ती है। जीवन सत्य को समझ लेने पर ही रचनाकार की अनुभूति वाणी का परिधान धारण करती है और आलोचक भी सत्य की धारणा बना कर साहित्यिक सौंदर्य का विश्लेषण, विवेचन और मूल्यांकन करता है। इसके अभाव में ये दोनों अल्प संवेगों की कुहेलिका में उद्भ्रान्त होकर भटकते रहते हैं। सत्य की यह धारणा प्रायः दार्शनिक सिद्धांत या मतवाद से संबंधित हुआ करती है। पर इसके कारण साहित्य की स्वतंत्रता अपहृत नहीं हो पाती। उसका अपहरण करते हैं वस्तु-जगत् के प्रत्यक्ष कार्य-व्यापार, जो सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक या आर्थिक कारणों से साहित्य के संस्कारी रूप को अपदस्थ करते हुए उसे कैंकर्य वृत्ति अपनाने को मजबूर करते हैं।

संक्षेप में, मैं कहूँगा कि मानव-जगत् की सांस्कृतिक चेतना उसकी दार्शनिक विचारणा में प्रतिध्वनित होती है, जो साहित्य के माध्यम से जीवन-दृष्टि का वस्तु-व्यापार बनकर रूपाकार पाती है और समीक्षा के अंतर्गत और भी अधिक स्पष्टता के साथ विवेचित होती है। जीवन-विषयक विचारणा या मनोदृष्टि अंततः अपनी सीमा में ही महत्वपूर्ण है, जिसे वास्तविक रचना और सच्ची आलोचना वैचारिक भूमिका या बौद्धिक आधार के रूप में ही ग्रहण कर पाती है। दर्शन निश्चय ही साहित्य की विषय-वस्तु नहीं है। वह उसकी प्रेरणा, प्रवृत्ति या जीवन-बोध है, जैसे कोई पोषक तत्व हो। यह स्थिति किसी भी प्रकार उसके साहित्यिक मूल्य और महत्व को क्षीण नहीं करती, उसकी भूमिका को स्पष्ट भर करती है। स्थूल दृष्टि से इसे ही साहित्य का संदेश या जीवन का दर्शन कह दिया जाता है, पर यही आलोचना की पद्धति और रचना की प्रवृत्ति का तत्व भी होता है।

आधुनिक हिन्दी काव्य समीक्षा

: १ :

आधुनिक शब्द काव्य और समीक्षा दोनों शब्दों से सम्बद्ध है, पर इस निबंध में उसे समीक्षा का विशेषण समझा गया है तथा काव्य-समीक्षा के प्रयोगात्मक स्वरूप को ही प्राध्यान्य देकर सिद्धान्त-विवेचन को आनुषंगिक रक्खा गया है। मैंने आधुनिक काव्य की समीक्षा के स्थान पर आधुनिक युग की काव्य-समीक्षा को अपनी विषय-सीमा बनाया है।

आधुनिक से आशय उस काव्य-समीक्षा से है, जो न केवल वर्तमान काल में प्रस्तुत की गई, बल्कि उस मूलवर्ती विचार-धारा से है, जो संस्कृत के अलंकार-शास्त्र की ही उपजीव्य नहीं बनी। रस, ध्वनि और अलंकार-सम्प्रदायों में परिबद्ध समीक्षा हिन्दी की मध्ययुगीन अथवा रीतिवादी समीक्षा है, जिसमें काव्यांगों का निरूपण तो हुआ है, पर कवि और उसकी काव्य-कृतियों का विवेचन नहीं। उसमें स्वतंत्र काव्यचिन्तन और शास्त्रीय नवोद्भावना का अभाव है। वह संस्कृत के अलंकार-युग की काव्य-रूढ़ियों में इस तरह जकड़ी हुई है कि हिन्दी की अपनी काव्य-समीक्षा का विकास-पथ उसके द्वारा प्रशस्त न हो सका।

काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में नवीन चिंतन का प्रवेश ही उसे आधुनिकता का अभिधेय प्रदान करता है। काल-खंड तो एक स्थूल विभाजन-मात्र है। स्पष्टतः आधुनिक काव्य-समीक्षा वह वस्तु है, जिसमें नये सिद्धान्तों की स्थापना हुई, प्राचीन मतों की नई व्याख्या की गई और काव्यालोचन के क्षेत्र से एक-देशीयता और गतानुगतिकता का परित्याग हुआ। इस युग में पाश्चात्य और भारतीय काव्य-समीक्षा के सिद्धान्त और स्वरूप

को समन्वित करने का आयास हुआ। जहां कहीं अतिवादी प्रवृत्तियां दिखाई पड़ीं, जैसे परम्परावादी काव्य-समीक्षा में अथवा पाश्चात्य मतवादों पर आश्रित साम्प्रदायिक काव्य-समीक्षा में, वे अपनी सीमा आप बन गईं और समीक्षा की किसी स्वस्थ परम्परा का प्रवर्तन न कर सकीं। आधुनिक समीक्षा की मौलिक विशेषता यह है कि वह समन्वयशील रही है, अनुवर्तनशील नहीं। यह स्वतंत्र चिन्तन, उदार दृष्टिकोण और तत्वान्वेषी मनोवृत्ति का परिणाम है, किसी हीन वृत्ति या मोहांध दृष्टि का प्रतिफलन नहीं। अवश्य ही प्राचीन और नवीन अथवा भारतीय और यूरोपीय सिद्धांन्तों, प्रतिमानों, और पद्धतियों की अन्विति सम्यक् और सन्तुलित ही हो, न इसकी नितांत आवश्यकता थी, न किसी ने इसका अतिरिक्त आग्रह दिखाया। काव्य-समीक्षा का विकास स्वाभाविक रूप में हुआ और नवीन ज्ञान के प्रकाश में उसके आयाम क्रमशः विकसित हुए। यहां पर काव्य-समीक्षा की इसी उत्थान-प्रक्रिया का विवेचन प्रस्तुत करना मुझे अभीष्ट है। समीक्षा की वस्तुगत, शैलीगत, विचारधारा अथवा साहित्य-सिद्धांत से सम्बद्ध विविधताओं का विश्लेषण-मात्र उपादेय नहीं होगा।

: २ :

भारतेन्दु युग में आधुनिक समीक्षा का प्रादुर्भाव हुआ और उसके आरम्भिक स्वरूप को पाश्चात्य समीक्षा से प्रेरणा मिली। अवश्य ही इस युग में काव्यसमीक्षा के अन्तर्गत नये विचार और नई पद्धति का आकलन-मात्र हुआ। यह सन्धिकालिक युग था, जिसमें प्रौढ़ सिद्धान्त-निरूपण या विशिष्ट प्रयोगात्मक आलोचना की सम्भावना ही नहीं हो सकती थी। इस युग में समीक्षकों ने पुस्तक-परिचय तथा समीक्षात्मक निबन्ध उपस्थित किये। अंग्रेज विद्वानों की समीक्षाओं ने हिंदी-समीक्षा को शक्ति और गति प्रदान की।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी और बालकृष्ण भट्ट इस युग के प्रमुख आलोचक हैं। इनकी आलोचना परिचय और प्रशंसा के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाई। उसमें गम्भीरता और प्रौढ़ता भी स्वभावतः नहीं आ सकीं। 'आनंद कादम्बिनी', 'हिन्दी प्रदीप', 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', प्रभृति पत्रिकाओं में पुस्तक परिचय प्रकाशित होते थे। विज्ञापन की शैली से आरम्भ होकर ये परिचय क्रमशः विशुद्ध समीक्षा के रूप में परिणत हुए। प्रशंसा के अतिरिक्त दोषों का उल्लेख भी सत्साहित्य को लक्ष में रखकर किया गया। "हिंदी कविता", "कबीर", "सूरदास", "शब्द-योजना" आदि निबन्धों में काव्य-धारा और उसके विकास को समीक्षकों ने अपने दृष्टिपथ में रखा।

इस युग के आलोचकों ने काव्य-कौशल अथवा रचना-चमत्कार को काव्य का मूल तत्व स्वीकार नहीं किया। वे जीवन को काव्य का विषय और रागात्मकता को उसका लक्षण समझने लगे। स्वाभाविकता, सुरुचि-सम्पन्नता और नैतिकता की धारणा

को प्रधानता देकर साहित्यिक समीक्षाएँ लिखी गई। काव्यक्षेत्र में जिस नव्य चेतना का उद्गम हुआ, उसी का प्रसार उस युग की काव्य-समीक्षा में दिखाई पड़ा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य के विकासशील रूप को प्रमुख माना और भाषा-शास्त्र को अपनी समीक्षा का आधार बनाया। प्रेमघन और बालकृष्ण भट्ट ने काव्य-सिद्धान्तों का निर्देश करते हुए काव्य-कृतियों की आलोचनाएँ लिखीं। पुस्तक-समीक्षा की पद्धति का सूत्र-पात प्रेमघनजी ने किया और विश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति को भट्टजी ने अपनाया, जिसमें व्यंग्य तथा परिहास भी संयोजित था। ग्रियर्सन, ग्राउज आदि अंग्रेज समीक्षकों ने हिन्दी-काव्य और उसके क्रम-विकास को अपनी आलोचनाओं का विषय बनाया। तुलसीदास के काव्य-सौष्ठव पर इन विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से केंद्रित रहा। इन्होंने मुख्यतः कवि, काव्य-ग्रंथ और उसकी भाषा तथा हिन्दी-काव्य के क्रम-बद्ध इतिहास का विवेचन किया। भारतेन्दु युग की काव्य-समीक्षा का स्वरूप विचारणा और शैली विदेशी विद्वानों की इन समीक्षाओं से बहुत-कुछ प्रभावित है। भारतेन्दु युग के समीक्षक पण्डित, आचार्य या शास्त्रज्ञ नहीं थे, वे तो सुलझे हुए विचारों के, अदम्य उत्साह से प्रेरित, जिन्दादिल काव्य-रसिक थे।

इस युग की काव्य-समीक्षा साधारण कोटि की और हल्कापन लिये हुए है। उसकी महत्ता नवीन कार्य में है, विशिष्ट उपलब्धियों में नहीं। हिन्दी-समीक्षा रीतिबद्ध दृष्टिकोण को छोड़कर नये-पुराने और भीतर-बाहर के काव्य को देखने परखने में प्रवृत्त हुई।

: ३ :

भारतेन्दु युग में साहित्य-सुरुचि का संस्कार-कार्य आरम्भ हुआ था। द्विवेदीजी के युग में यही प्रवृत्ति प्रधान हो उठी। गुण-दोष-विवेचन, व्यंग्य-कटाक्ष तथा प्रशंसा-परिचय हिन्दी-समीक्षा के आरम्भिक स्वरूपावयव हैं। स्वयं द्विवेदीजी वह सन्धि हैं, जहाँ परिचयात्मक आलोचना समाप्त होती है और विश्लेषणात्मक समीक्षा प्रारम्भ।

द्विवेदी-युग की काव्य-समीक्षा पर पुनरुत्थानवादी जीवन-दृष्टि की स्पष्ट छाप विद्यमान है। भारतीयता के पुनः स्थापन के प्रयास में इस युग के समीक्षक सुधारवादी मनोवृत्ति से अभिभूत हो उठे। उन्होंने जो भी सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखीं, उनका मानदंड वही था, जो संस्कृत-समीक्षा का रहा है। रीतिवादी समीक्षा और द्विवेदीयुगीन समीक्षा में यह अन्तर है कि यद्यपि दोनों युगों के साहित्यिक मानों का मूलाधार संस्कृत का साहित्य-शास्त्र है, तो भी द्विवेदी युग की काव्य- समीक्षा नवयुग के सुरुचि, नैतिकता, सुधार-संस्कार-विषयक आशयों से सतत स्पन्दित होती रही है। रीतिवादी-समीक्षा की भांति वह उसे छोड़ न बैठी। वह मनोरंजन, आनन्द या रसात्मकता के साथ-साथ उपदेश या जीवनादर्श का तत्व भी अपनाए रही। उसमें स्वास्थ्य के लक्षण और नव वय का उत्साह था।

पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उस पर रीति की छाप नहीं है। पं. पद्मसिंह शर्मा रीति-शैली के आचार्य हैं। अवश्य ही रीतिवादी समीक्षा का धरातल भिन्न था और काव्य-दृष्टि पृथक्। इस पद्धति को मिश्रबन्धुओं ने अपनाया और कृष्ण-विहारी मिश्र तथा लाला भगवानदीन ने विकसित किया। इसे हम समीक्षा की परम्परा-वादी या शास्त्रीय परिणति समझते हैं, जो द्विवेदी युग की प्रतिनिधि काव्य-समीक्षा की पद्धति नहीं है।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि द्विवेदी युग की काव्य-समीक्षा ने भारतीय साहित्यशास्त्र को आधार माना है, पर उसकी दो भिन्न कार्य-दिशाएँ हैं। स्वयं द्विवेदीजी रीति-परम्परा के कट्टर विरोधी थे और अर्थ-सौरम्य के समर्थक। उन्होंने कवि-शिक्षा को प्रधानता दी है तथा काव्यगत नैतिकता का पोषण किया है। उनके युग की समीक्षा क्रमशः विश्लेषणात्मक होती गई और तथ्य-निरूपण पर बल दिया जाने लगा। दूसरी ओर मिश्र-बन्धु और शर्माजी रीति-परम्परा का अनुसरण करते रहे। एक पुनरुत्थानवादी समीक्षा है, दूसरी परम्परावदी।

द्विवेदीजी ने काव्य-क्षेत्र को स्वच्छ बनाने और उसमें सात्विक भावों का प्रकाश फैलाने का प्रयत्न किया। उन्होंने साहित्यिक सुरुचि को दूषित करने वाले उपकरणों को अपने स्पष्ट वक्तव्यों और निर्भय निर्देशों के द्वारा समूलोन्मूलित किया। दोषोद्भावना की प्रवृत्ति का मूल, उनकी आदर्श-निष्ठा और चारित्रिक निष्पक्षता में है। वे काव्य-कृति के दोषों का उद्घाटन करते हुए कवित्व के विकास का आदेश भी देते रहे हैं। उन्होंने रीति-परिपाटी का विध्वंस और उत्थानशील काव्य का प्रवर्द्धन करने की क्षमता दिखाई। उन्होंने काव्य के वर्ण्य विषय, पद और भाषा तथा कवि के भावतादात्म्य, सहज स्फुरित अभिव्यक्ति और अर्थ गौरवमयी पद योजना के सम्बन्ध में अपने मन्तव्यों को प्रकट किया। उनके सत्प्रयास से गद्य और पद्य की भाषा एक हो गई, अतुकान्त छन्दों की रचना होने लगी, पुस्तकाकार रूप में समीक्षाएँ लिखी जाने लगीं तथा खड़ी बोली को निश्चित काव्यादर्श प्राप्त हुआ।

द्विवेदीजी काव्य को सोद्देश्य वस्तु और रंजक रचना का रूप देना चाहते थे। वे सरलता, स्पष्टता और स्वाभाविकता के समर्थक थे। उन्हें चमत्कार-साधना और कुरु-चिपूर्ण वर्णनों से बेहद चिढ़ थी। सादगी, असलियत और जोश के गुणों को वे काव्य का सर्वस्व मानते थे। अपने सैद्धान्तिक निबन्धों में उन्होंने संस्कृत के आचार्यों के विचारों का स्पष्टीकरण किया, पर अधिकांश स्थलों पर पाश्चात्य और भारतीय दोनों ही परम्प-राओं से सार-ग्रहण करने की प्रवृत्ति दिखाई। दंडी, क्षेमेंद्र और मम्मट के वे ऋणी हैं और वर्डस्वर्थ तथा मिल्टन से प्रभावित। अनुभूति, कल्पना और काव्य का उनका विवेचन

तथा कवि-व्यक्तित्व एवं रचनाकार के विचारों का उनका निरूपण पाश्चात्य प्रभाव को उदाहृत करता है। उन्होंने काव्य को जीवन की व्याख्या के रूप में गृहीत किया और अपनी निरूपण-शैली को अपरम्परित रक्खा।

द्विवेदीजी ने काव्य-समीक्षा को स्वतंत्र मार्ग पर अग्रसर किया। उनकी समीक्षा यद्यपि परिचयात्मक और वर्णन-प्रधान है, पर उन्होंने संस्कृत के शास्त्रीय आच्छादन को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। वे आदर्शवाद और नीतिवाद की ऐसी प्रतिष्ठा कर गए कि वह शुक्लजी की समीक्षा का सुनियोजित आधार बन गई। दोनों ही आचार्य न रीति-काव्य में रस ले सके और न छायावादी काव्य की श्रेष्ठता स्वीकार कर सके।

'सरस्वती', 'समालोचक', और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के द्वारा काव्य-समीक्षा को परिचयात्मक, व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक और ऐतिहासिक शोध-सम्बन्धी उपलब्धियाँ प्रकट हुईं। काव्य-समीक्षा धीरे-धीरे पाश्चात्य काव्य-शास्त्र से प्रभावित होती गई और हिन्दी में स्वतंत्र समीक्षा-पद्धति का प्रवर्तन हुआ।

: ४ :

इस विकास-पथ से भिन्न, पर शुद्ध समीक्षा की दृष्टि से प्रौढ़, शास्त्रीय काव्य-विवेचना भी की जाने लगी। मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' और 'नवरत्न' में तथा 'पत्रिका' में प्रकाशित शोध-निबन्धों में यद्यपि परिचयात्मक और निर्णयात्मक शैली ही अपनाई, पर उन्होंने दोष-दर्शन के अतिरिक्त गुण-निरूपण का कार्य भी किया। वे कवि की कला, विचार-धारा, भाव और भाषा का निरूपण करने लगे। उन्होंने शास्त्रीय मान-दण्ड स्वीकार किया और परम्परावादी समीक्षाएं लिखीं। कवियों का श्रेणी-विभाजन करके उन्होंने गुण-दोष-विवेचन की शैली के माध्यम से तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। उन्होंने तुलना, निर्णय और प्रशंसा करते हुए कवि के व्यक्तित्व, दर्शन, विचार, परिस्थिति आदि का निरूपण किया। उन्होंने काव्योत्कर्ष को ही समीक्षा का प्रमुख आधार बनाया, पर वे युग-चेतना से प्रायः असंपृक्त ही रहे।

पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई भाष्य की भूमिका के रूप में आलोच्य कवि की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए तुलना का माध्यम और निर्णय का आधार अपनाया। बिहारी के काव्य-सौंदर्य और उनकी साहित्यिक परम्परा का निरूपण शास्त्रीय पद्धति और प्रभावाभिव्यंजक शैली में किया गया। यह पांडित्यपूर्ण रचना है, जिसमें बिहारी के भाव-वैभव, शब्द चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य, सजीव कल्पना, आदि का तुलनात्मक विवरण दिया गया है। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' समीक्षा-पुस्तक लिखकर मिश्र-बन्धुओं के इस मत को कि देव बिहारी से श्रेष्ठ कवि हैं, पुनः प्रतिपादित किया। इस विवाद की तृतीय तथा अंतिम पुस्तक लाला भगवानदीन ने प्रस्तुत की—'बिहारी और देव'।

लालाजी ने शास्त्रीयता और प्रभावात्मकता के साथ साथ दोष-दर्शन की प्रवृत्ति भी अपनाई और उन्हीं दोषों को, जिन्हें मिश्रबंधुओं ने विहारी में देखा था, उन्होंने देव में दिखा दिया। यह निर्णयात्मक आलोचना थी, जो संकीर्ण तुलनात्मक दृष्टिकोण को अपना लेने के कारण विकसित न हो सकी।

द्विवेदीजी ने 'कालिदास और शेक्सपियर नामक' तुलनात्मक समीक्षा की पुस्तक लिखी थी और ऐसी ही तुलनाएँ श्रीमती शचीरानी ने आगे चलकर प्रस्तुत कीं। ये तुलनाएँ भिन्न-भिन्न कलाकारों की विशेषताओं का परिचय देती हुई किन्हीं स्थूल समानताओं का निर्देश-मात्र करती हैं। ये दोनों समीक्षक परम्परावादी नहीं हैं। तुलना के द्वारा कवि-विशेष के काव्य की पृथक् सौंदर्य-सत्ता उद्घाटित हो सकती है, पर हिन्दी में इस परम्परा की समुचित स्थापना न हो सकी और परम्परावादी समीक्षा विकासोन्मुख जीवन और उसके सप्राण काव्य का मूल्यांकन करने में प्रवृत्त नहीं हुई। न उसका समुचित विकास हुआ, न उसका उत्कर्ष ही दिखाई पड़ा। आनुषंगिक रूप में उसका जहां-तहां उपयोग मात्र किया गया।

: ५ :

हिन्दी-समीक्षा की इस आरम्भिक स्थिति और नवीन जागृति की अवस्था में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ। वे हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक आचार्य हैं। उन्होंने भारतीय समीक्षा के सुनिश्चित मानों को ग्रहण किया और उन्हें नया अन्तःप्रकाश दिया। भारतीय साहित्य-शास्त्र को मनोवैज्ञानिक भूमि पर उन्होंने प्रतिष्ठित किया। वे पाश्चात्य प्रभाव भी ग्रहण करते गये हैं, पर छायावादी काव्य-समीक्षकों की तुलना में वह अधिक नहीं है। वस्तुतः वे नीतिवादी और मर्यादा-प्रेमी समीक्षक हैं। उन्हें पुनरुत्थान युग की साहित्य-चेतना का प्रकर्ष समझना चाहिये।

शुक्लजी ने कविता को शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाला साधन माना है। उनके अनुसार काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्व-व्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी-अनुभूति में लीन कर सके। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊंचे-ऊंचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय भगवान् के लोक-रक्षक हृदय से जा मिलता है, तब वह भक्तिमें लीन कहा जाता है। उस दशा में धर्म, कर्म और ज्ञानके साथ उसका पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है। शुक्लजी जीवन और काव्य का घनिष्ठ सम्बन्ध विशेष संदर्भ में स्वीकार करते हैं और काव्य को नैतिक आदर्शवाद की विशिष्ट भूमिका देते हैं। वे काव्य को भाव-प्रसार का साधन समझते हैं, जो जीवन की अर्थ-भूमियों का विस्तार करता है। काव्य रसास्वादन के द्वारा मनोविकारों का परिष्कार करता है। यही शुक्लजी के आदर्शवाद और उनकी रस-विषयक धारणा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। पर इसे चरितार्थता शील-

विकास के माध्यम से सुलभ होती है, जिसके लिए प्रत्येक-वस्तु -व्यापार और कथाश्रित काव्य-रचना की अनिवार्य आवश्यकता है। यही शुक्लजी का विध्यात्मक काव्य-चिन्तन है। प्रत्यक्ष सौंदर्य सत्ता होने के कारण वे काव्य में प्रकृति के चित्रण को रसानुभूति के योग्य समझते हैं, पर परोक्षानुभूति को उपयुक्त काव्य-विषय नहीं मानते। काव्य की संवेद्य स्थिति के क्षेत्र में शुक्लजी की पैठ अतिशय गहन है, पर काव्य के व्यापक सौन्दर्य का साक्षात्कार कर पाने में उनके सिद्धान्त सटीक नहीं बैठते।

महच्चरित्र, उसकी उदात्त जीवनानुभूति और लोक-हित-साधक क्रियाकलाप ही काव्य की वर्ण्य सामग्री नहीं है। जीवन की दार्शनिक अनुभूतियां, सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध, कल्पना की अतीन्द्रिय उड़ानें और परोक्ष चिन्तन 'शुक्लवाद' में स्वीकृत नहीं है। यथार्थ-वादी चित्रण, साधारण विचारणा और सामान्य भावधारा अथवा आंतरिक अनुभू-तियों का अवस्तुनिष्ठ आलेखन भी शुक्लजी को अग्राह्य है। काव्य-समीक्षा की इस सीमा बंधन को छायावादी समीक्षकों ने उन्मुक्त किया।

शुक्लजी के मन में मध्ययुग की समाज-व्यवस्था और उसके लक्ष्योद्देश्यों की समुन्नत धारणा बनी हुई थी। वे लोकादर्श की स्वनिर्मित पीठिका पर प्रयोजननिष्ठ काव्य का अस्तित्व और उसकी सार्थकता सिद्ध कर सके हैं। उन्होंने अपने युग से बुद्धिवाद की प्रवृत्ति और लोकहितैषिता की भावना प्राप्त की थी। इसी कारण वे मूल्यवादी हो गए और वस्तुनिष्ठ एवं आदर्शमूलक काव्य को उत्कृष्ट मानने लगे।

पर शुक्लजी की काव्यरसज्ञता उत्कृष्ट कोटि की रही है। वे भारतीय जीवनादर्श और नीतिवादी काव्यादर्श को अपनाते हैं, पर काव्यत्व और उसके संवेद्य तथा आह्लादक स्वरूप को उन्होंने पर्याप्त महत्व दिया है। उनकी समीक्षा सम्बन्धी मान्यताएँ भी न केवल प्राचीन सिद्धान्तों पर आश्रित हैं और न केवल नवीन मतों का आकलन करती हैं। उन्होंने मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। वे रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति प्रभृति मतों को नये ज्ञान के प्रकाश में देखते हैं और उनका जीर्णोद्धार करने में समर्थ हुये हैं।

वस्तुतः वे रसवादी आचार्य हैं। रसमत उनके मनोवैज्ञानिक चिन्तन, सामाजिक बोध और काव्योत्कर्ष की असंदिग्ध पहचान के कारण नवजीवन पा गया है। उन्होंने काव्यानुभूति को जीवनानुभूति माना है और रसानुभूति को वास्तविक या प्रत्यक्ष अनुभूति का उदात्त और अवदात स्वरूप कहा है, जो निर्विशेष अथवा लोक-सामान्य होती है।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में तथा तुलसी, जायसी और सूर की काव्य-समीक्षा में सैद्धांतिक एवं प्रयोगात्मक आलोचना का समन्वित रूप प्रस्तुत किया। वे प्रायः सभी कवियों, काव्यरूपों, काव्यांगों आदि पर अपना मत देते गए। उन्होंने ऐतिहासिक समीक्षा

की वैज्ञानिक पद्धति अपनाई। वे काव्य-समीक्षा का वैधानिक स्वरूप निर्धारित कर गए और काव्योद्देश्य के विवेचन की निश्चित प्रणाली भी। उनकी काव्य-समीक्षा का वैधानिक स्वरूप सर्व-स्वीकृत हुआ, पर काव्योद्देश्य-विषयक पद्धति नवीन मतवादों की उलझनों को जन्म दे गई। काव्य के विचार-तत्व तथा वर्ण्य-विषय और शैली के सौन्दर्य का विश्लेषण ही उन्होंने प्रायः किया। वे कवि के व्यक्तित्व, जीवन और स्वभाव की खोज करने में प्रवृत्त नहीं हुए। उन्हीं का कथन है कि "कवियों की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अन्तः प्रकृति की छानबीन करने वाली उच्चकोटि की समालोचना का प्रारंभ तृतीय उत्थान में जाकर हुआ।" स्पष्टतः उनकी काव्य समीक्षा कृति विशेष के भावपक्ष और कलापक्ष का सौन्दर्य उद्घाटित करती है, अपने जीवनमानों के साथ कवि के चिंतन या उद्देश्य की संगति खोजती है, और काव्यत्व की तरतमता का विश्लेषण करती है। परवर्ती समीक्षा में वस्तु-विवेचन के स्थान पर प्रवृत्ति-निरूपण को प्रधानता दी गई।

समीक्षा के क्षेत्र में शुक्लजी ने एक निश्चित पद्धति प्रवर्तित की। उसका सांचा पुराना है, पर रूप-रंग नया है। यह पद्धति विश्लेषण, विवेचन और निगमन शैलियों से निर्मित की गई है। इसमें आलोचक की तटस्थता का अन्तर्भाव भी है। काव्य-समीक्षा की उपलब्ध प्रणालियों को वैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक रूप देकर उन्होंने काव्य-समीक्षा का वैधानिक खाका तैयार कर दिया।

शुक्लजी की जीवन-दृष्टि, साहित्यिक मान्यता तथा निर्णयादि से मतभेद हो सकता है, सूर, तुलसी या जायसी को दूसरे मानों या काव्य-दृष्टियों से देखा-परखा जा सकता है, रस, अलंकार प्रभृति तत्वों को काव्य में न्यूनाधिक महत्व प्राप्त हो सकता है, उनके आदर्शवाद या नीतिवाद से अथवा प्रबंध और गीति-काव्य-विषयक उनके मतों से विरोध हो सकता है, दृश्य और गोचर के अतिरिक्त भी कुछ ऐसा हो सकता है, जैसे रहस्यानुभूति, जो संवेदनीय हो, पर शुक्लजी का महत्व घट नहीं सकता। काव्य-कृति का विशुद्ध आनन्द ही उनके लिये अपर्याप्त था। अपने इसी पक्ष का पोषण करने के लिये तथा रस-विवेचन को वैज्ञानिक भित्ति देने के निमित्त वे पाश्चात्य समीक्षकों की सहायता स्वीकार करते हैं। रिचर्डस् और स्पिगर्न उनके प्रिय आलोचक हैं। शैंड, आर्नल्ड और टालस्टाय के चिन्तन से वे प्रभावित हुए हैं। उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के प्रतिमानों को अवश्य ग्रहण किया, पर भारतीय मतों और सिद्धांतों में अधिक आकर्षण रखने के कारण वे पाश्चात्य सिद्धांतों की सहायता भर ले सके। उन्होंने कला-सम्बन्धी यूरोपीय मत-वादों का खंडन भी किया, यथा अभिव्यंजनावाद।

: ६ :

शुक्लजी के समीक्षादर्श परवर्ती समीक्षा में गृहीत नहीं हुए। पर परवर्ती सभी समीक्षा-पद्धतियां शुक्ल-पद्धति को आधार बनाकर ही विकसित हुईं। उन्होंने हिन्दी में काव्य-समीक्षा की स्थायी पद्धति निर्मित की। उनकी विचारधारा अथवा निकाय

में आने वाले बहुत कम समीक्षक हैं। उनमें शुक्लजी-जैसी उत्कृष्ट काव्य-रसज्ञता और सूक्ष्म विवेचन-क्षमता का भी अभाव है। उन्होंने शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति का सांचा तो अपना लिया, पर वैसी मौलिकता न दिखा सके। इस निकाय के समीक्षकों में इस कथन के एक-मात्र अपवाद पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं। उन्होंने शुक्लजी की वैधानिक समीक्षा-पद्धति को बड़ी खूबी के साथ संवारा है। उनमें उच्चकोटि की शास्त्रीय अभिज्ञता है और काव्य-रसज्ञता भी। पर वे शुक्लजी की भांति नीतिवादी समीक्षक नहीं हैं। यह कदाचित् रीतिवादी काव्य-समीक्षा का प्रभाव है। शुक्लजी ने जिस साहित्यिक वैधानिकता को प्रश्रय दिया उसे अधिकाधिक सूक्ष्म और वस्तु-विश्लेषण-प्रधान बनाया गया। अनुशीलनात्मक प्रबंध और अध्यापक-समीक्षकों की आलोचनाएँ इसी कोटि में आती हैं। कतिपय समीक्षक वैधानिकता के जाल में फंसकर विश्लेषण, वर्गीकरण या विभाजन का सूत्र ही पकड़कर चले। फलतः वे सरस्वती की प्रदक्षिणाएँ करते रहे, उसके सौंदर्य का निर्वचन न कर पाए।

बाबू श्यामसुन्दरदास की समीक्षा-पद्धति शुक्लजी से भिन्न नहीं है, पर उनका दृष्टिकोण अधिक व्यापक और समन्वयशील है। उनकी इस देन का महत्व विस्मृत नहीं हो सकता कि वे हिंदी में पाश्चात्य काव्यालोचन के तत्वों की सफलतापूर्वक प्रतिष्ठा कर सके, जिसकी सम्भावनाएँ आगे चलकर अनावरित हुईं। 'साहित्यालोचन' के द्वारा पाश्चात्य काव्य-चिन्तन को हिन्दी में ले आने का साहसपूर्ण कार्य उन्होंने किया। इस प्रयास का स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि हिन्दी का समीक्षक पाश्चात्य समीक्षा और उसके सिद्धान्तों को अपनी ही वस्तु समझने लगा। अब यह आवश्यक नहीं रहा कि भारतीय समीक्षा-तन्त्र के प्रतिबन्ध में ही काव्य-समीक्षा की जाए। बाबू साहब ने भारती और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों को समान स्तर पर ग्रहण किया है। काव्य को सार्वभौम वस्तु मान लेने पर ही यह कार्य हो सकता था। उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को एक नया रास्ता सुझाया। यह हिन्दी के अपने काव्य-शास्त्र के निर्माण का आरम्भिक प्रयास भी था। मैं समझता हूं कि छायावादी समीक्षा-पद्धति को उद्भूत करने में बाबू साहब के इसी समन्वय-कार्य का महत्वपूर्ण योग रहा है।

: ७ :

शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति छायावादी समीक्षा-पद्धति के रूप में विकसित हुई। इसमें स्वच्छन्दतावादी जीवन-दृष्टि को ग्रहण किया गया और काव्यात्मक भाव-संवेदनों को प्राधान्य दिया गया। इसका आरम्भ नीतिवाद के विरुद्ध कलावादी प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। स्वभावतः यह यूरोप के रोमांटिक साहित्य-शास्त्र की भित्ति स्वीकार करके भारतीय काव्य-मानों को आत्मसात् करने लगी। फलतः यह काव्य-कला का समन्वयशील चिन्तन प्रस्तुत कर सकी। इसमें कवि और उसकी रचना को मुख्य-वस्तु माना गया। भारतीय विचार-धारा में श्रोता, सहृदय या पाठक की जो पृथक् स्थिति थी और जिसे लेकर मतवाद ही नहीं चल पड़े थे, वरन् विशिष्ट जीवनादर्शों को काव्य पर आरोपित करने का

उपक्रम हो रहा था, उसे छायावादी समीक्षकों ने कोई महत्व नहीं दिया। उन्होंने रचयिता की विस्मृतप्राय स्थिति को पुनः प्रतिष्ठित किया और उसकी सौन्दर्यानुभूति का अनुशीलन आरम्भ किया।

शुक्लजी की पुनरुत्थानवादी विचार-धारा में स्वभावतः कई ऐसे सूत्र थे, जो स्वच्छन्दतावादी विचारणा से पृथक् ही नहीं थे, वरन् विरोध में भी पड़ते थे। भौतिक उपयोगितावाद अथवा नैतिक उपदेश को छायावादी समीक्षक स्वीकार नहीं कर सकता था। स्वाभाविक भावों और सौन्दर्य-प्रतिमाओं की निश्चल अभिव्यक्ति को मात्र स्थूल संदर्भों में परीक्षित नहीं किया जा सकता था। अन्तर्मुख प्रवृत्तियों, सूक्ष्म भाव-संवेदनों और सौन्दर्य-कल्पनाओं की समीक्षा शुक्लजी के काव्यादर्शों द्वारा सम्भव नहीं थी। इस प्रगीत-काव्य के युग में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और उसकी महत्ता प्रतिष्ठित हो रही थी। इसी कारण रोमांटिक सौन्दर्य-शास्त्र और पश्चिमी कला-चिन्तन से प्रभावित होकर हिन्दी में छायावादी समीक्षा प्रचलित हुई। इसमें शुक्लजी की कार्य-पद्धति को वस्तु निष्ठ बनाने का आयास भी है।

यह समीक्षा-पद्धति सौष्ठववादी कही जाती है। सौष्ठव का अर्थ है अनुभूति और अभिव्यक्ति का, काव्य के बाह्य और अभ्यन्तर दोनों का समन्वय। वस्तुतः यह काव्य को विशिष्ट कला-कृति के रूप में देखने का प्रयास था। समीक्षकों ने अपने मन्तव्यों को कला-कृति में खोजने के स्थान पर काव्यानुभूति को ही अपने अध्ययन और विवेचन का विषय बनाया। इसकी दार्शनिक स्थिति और सांस्कृतिक पीठिका सुनिश्चित है। इसी कारण इसे सांस्कृतिक समीक्षा-धारा कहा गया है। इसकी प्रमुख विशेषता 'ऐतिहासिक और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा रचनाकार के विशिष्ट काव्य-मूल्य को प्रतिष्ठित करना,' मानी गई है। इस पद्धति के समीक्षक गोचर और अगोचर विषयों, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अनुभूतियों, प्रबंध और गीति-काव्यों तथा नये और पुराने कवियों की काव्य-समीक्षा निभ्रान्त होकर कर सके हैं। मताग्रही रचनाओं की वस्तुगत विशेषताओं को भी उद्घाटित किया जा सका है। समीक्षक के जीवनादर्शों के आधार पर काव्य की जांच-पड़ताल क्यों की जाए? काव्य के अन्तर्वर्ती जीवन-सौन्दर्य और उसकी भाव-भूमियों, दार्शनिक मन्तव्यों तथा अनुभूति के साकार चित्रणों को ही समीक्षा का क्षेत्र क्यों न माना जाए? संक्षेप में, यही छायावादी काव्य-समीक्षक की मान्यता है।

छायावादी काव्य-समीक्षा में साहित्यिक विशेषताओं का तटस्थ विवेचन, सांस्कृतिक और दार्शनिक अभिप्रायों का ऐतिहासिक अनुशीलन, रचनाकार की अन्तर्वृत्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन तथा वृत्तिविशेष की भाव-सत्ता का सम्यक् आकलन किया गया है। मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक समीक्षा-शैलियों का भी विनियोग हो जाने के कारण यह समीक्षा-पद्धति समन्वयात्मक पूर्णता प्राप्त कर सकी।

पर इसकी यह महत्वपूर्ण सीमा भी है कि समीक्षकों के मान और आधार रुचि-भेद की भाँति स्थितिशील नहीं हैं और उनमें वैविध्य भी है। उदाहरणार्थ प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के काव्य-चिन्तन को देखा जा सकता है और उनकी विचारणा की पारस्परिक तुलना की जा सकती है। अवश्य ही यह पद्धति हिन्दी-काव्य समीक्षा के विकास की चरम अवस्था है, जिसमें भारतीय और यूरोपीय काव्य-शास्त्र का अपूर्व समाहार सम्भव हुआ है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इस समीक्षा-पद्धति के प्रमुख पुरस्कर्ता हैं। उन्हें सांस्कृतिक पीठिका पर साहित्य का विकासोन्मुख सौन्दर्य आकर्षित करता है। उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा की सौन्दर्य संवेदनीयता के साथ भारतीय रस-सिद्धान्त को समन्वित करने का कार्य किया है। वे साहित्य में सांस्कृतिक चेतना प्रदान करने की शक्ति अनुभव करते हैं। उन्होंने साहित्य को जीवनोत्थान की शक्ति माना है। उनकी यह धारणा है कि कवि की समस्त काव्य-प्रक्रिया का साधारणीकरण होता है। कवियों की अन्तर्वृत्तियों की छानबीन करते हुए वे जीवन की सुष्ठु कल्पना अथवा मानवीय आदर्श की मांग भी बराबर करते रहे हैं। उनकी रुचि स्थूल वर्णनों अथवा उपदेशात्मक आख्यानों में नहीं रमी। काव्य-सौन्दर्य की उनकी पहचान विलक्षण और अचूक है। छायावादी समीक्षा-पद्धति में दार्शनिक चेतना और वस्तून्मुखी दृष्टि का सन्निवेश भी उन्होंने किया। उनकी प्रयोगात्मक आलोचनाएँ छायावादी कवियों की सम्यक् प्रतिष्ठा कर सकी हैं। उन्होंने सूरदास की आत्मपरक भाव-भूमि का उद्‌घाटन भी किया है।

इसी पद्धति के दूसरे प्रमुख समीक्षक हैं डा. नगेन्द्र। उन पर मनोविज्ञान का, विशेषतः फ्रायड के मत का, पर्याप्त प्रभाव है। पर उनकी समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताएँ प्रायः छायावादी समीक्षा-पद्धति पर ही आधारित हैं। यों उनकी समीक्षा-शैली शुक्लजी का उत्तराधिकार लेकर अग्रसर हुई है। डा. नगेन्द्र साहित्य को व्यक्तिचेतना का परिणाम समझते हैं। साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली सामाजिक चेतना उनकी दृष्टि में गौण है। वे रसवादी समीक्षक हैं और उन्होंने समन्वयशील समीक्षा पद्धति ही अपनाई है। उनकी काव्य समीक्षा तलस्पर्शी और तथ्यपूर्ण होती है। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रामाणिक विवरण और विवेचन प्रस्तुत करनेका चिरस्मरणीय कार्य किया है। उन्होंने प्रामाणिक शास्त्र-चिन्तन और रस-सिद्ध काव्यालोचन किया है।

इस पद्धति के अन्य समीक्षक हैं सुधांशु, जानकीवल्लभ शास्त्री, विनयमोहन शर्मा तथा शांतिप्रिय द्विवेदी। इस धारा के सभी समीक्षकों की विशेषताएँ इस निबन्ध की सीमा में प्रकट नहीं हो सकतीं। शांतिप्रियजी की समीक्षाएँ आत्मव्यंजक अथवा, प्रभावाभिव्यंजक होती हैं, जिनमें तथ्य-निरूपण और तर्क-प्रतिपादन का प्रायः अभाव

रहता है। अभी छाया-वादी समीक्षा-पद्धति विकासशील है, अतः इसकी विशेषताओं और सीमाओं के सम्बन्ध में इदमित्थं नहीं कहा जा सकता। वह शास्त्र और काव्य को तथा वस्तु और अनुभूति को सक्षम रूप में एक साथ ग्रहण कर सकी है।

: ८ :

छायावादी समीक्षा-पद्धति से थोड़ी भिन्न समसामयिक और मिलती-जुलती काव्य-समीक्षाएँ उन साहित्यकों ने प्रस्तुत की हैं, जो स्वतंत्र चिन्तन को अधिक महत्व देते हैं और साहित्य को जीवन की अथवा अपने ज्ञान की व्यापक पृष्ठभूमि में रखकर परखते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र में प्रमुख हैं। उन्होंने काव्य को व्यापक सांस्कृतिक भूमिका में रखकर देखा है। उनकी दृष्टि में सामान्य जन-जीवन से पृथक् साहित्य कोई वस्तु नहीं है। उनकी समीक्षाओं को मानवतावादी ही नहीं, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से उत्प्रेरित भी माना गया है। मार्क्सवादियों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण वर्गवादी होता है। द्विवेदीजी का दृष्टिकोण उससे भिन्न है। उनकी विचारधारा ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक है, आत्मगत अथवा पूर्वाग्रहयुक्त नहीं। वे अनेक शास्त्रों के मर्मज्ञ पंडित हैं और उनकी समीक्षा इस ज्ञान से लाभान्वित हुई है। उन्होंने साहित्य की अपेक्षा उसके परिवेश का विवरण अधिक दिया है। सत्येन्द्रजी की इतनी उदार मनोवृष्टि नहीं है, पर वे भी इसी वर्ग के समीक्षक हैं। बाबू गुलाबराय भी शास्त्रीय समीक्षक हैं, पर वे समन्वयवादी माने गए हैं। वस्तुतः वे मताग्रहहीन समीक्षक हैं तथा व्याख्या और विश्लेषण ही उन्हें प्रिय हैं। बख्शीजी की समीक्षा-शक्ति गुलाबराय जी से कहीं अधिक प्रभविष्णु थी और उन्होंने पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की अच्छी धारणा बनाई थी, पर उनका यथोचित विकास ही न हो सका। श्री दिनकर युग-चेतना के विकास के साथ साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करके उसे देखना चाहते हैं। उन्होंने ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति अपनाई है।

इन स्वतन्त्र समीक्षकों ने काव्य, भाषा, इतिहास, मत, सम्प्रदाय, रचयिता, आदि का आलोचन-पर्यालोचन किया है तथा युग-चेतना और ज्ञान-विज्ञान का ऊहापोह भी। समीक्षा का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक हो उठा है। वह प्रौढ़, तथ्यान्वेषिणी, तत्व-विवेचक और विश्लेषणात्मक हो गई है। इन्हीं प्रयासों के कारण युग और परिवृत्ति को साहित्य का प्रेरक तत्व माना जाने लगा है और ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति की मूल्य-वृद्धि हुई है। इसे मानववादी समीक्षा भी माना गया है, पर यह छायावादी समीक्षा की एक शाखा ही है, स्वतन्त्र समीक्षा-पद्धति नहीं।

: ६ :

हिन्दी-समीक्षा क्रमशः पश्चिम के यथार्थवादी साहित्य और मार्क्सवादी तथा मनोवैज्ञानिक समीक्षा-पद्धतियों से सम्पृक्त हुई। नई समीक्षा न छन्द-विशेष की खूबियों की जांच-पड़ताल करती है, न कवि-कर्म का निरूपण, न कवि की आत्मानुभूति का विवेचन। उसने समाजशास्त्रीय आधार पर साहित्य का परीक्षण आरम्भ किया है। कवि के अंतरंग और दिवा-स्वप्नों की छानबीन में भी वह प्रवृत्त हुई है। पर उसका दृष्टिकोण

एकांगी होता जा रहा है। उसमें सांप्रदायिक संकीर्णता का कुप्रवेश भी होने लगा है। इसका यह शुभ परिणाम तो हुआ है कि काव्य-समीक्षक जागरूक हो गये हैं और प्रखर बौद्धिकता को अपना रहे हैं।

मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के आधार पर साहित्य की श्रेष्ठता, उपादेयता और स्थायित्व का मूल्यांकन करना मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति है। व्यक्ति-वादी विचार-धारा से इसका स्वाभाविक विरोध है। काव्य में सामूहिक चेतना प्रकट होनी चाहिये, यह आग्रह भी है। समाज के ऐतिहासिक विकास का आर्थिक आधारों पर अध्ययन करते हुए यह निश्चय किया गया कि सामाजिक अस्तित्व ही व्यक्ति की चेतना का निर्माण करता है और आर्थिक परिस्थितियाँ साहित्य को परोक्ष रूप से नियंत्रित करती हैं। फलतः साहित्य को वर्गगत कठघरों में रखकर परीक्षा की जाने लगी। रचनाकार की सामाजिक परिस्थिति के आधार पर काव्य-परीक्षा की गई। समाजशास्त्रीय आधार पर साहित्यिक परीक्षा की परिपाटी का प्रचलन भी इसी समीक्षा-पद्धति की देन है। मार्क्स-वादी समीक्षक वर्ण्य विषय, शैली और भाषा को जनवादी बनाने का आकांक्षी है।

कवि के सामाजिक परिवेश की जानकारी लाभप्रद होती है तथा काव्य की समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से यथोचित विवेचना की जा सकती है, पर मार्क्सवादी समीक्षा राजनीतिक सिद्धान्तों को काव्य पर आजमाने लगी है। मताग्रह के आधिक्य के कारण काव्य की स्वतंत्र सत्ता ही खतरे में पड़ जाती है। मार्क्सवादी जीवन-विषयक एक दृष्टिकोण है, समाज-सापेक्ष और भौतिकवादी। इसे काव्यानुभूति अथवा जीवनानुभूति या मानवीय भाव-सत्ता का स्थानापन्न नहीं बनाया जा सकता। सामूहिक चेतना की वर्गवादी अभि-व्यक्ति और उसकी यथार्थ चित्रण-पद्धति ही सम्पूर्ण काव्य की व्याख्या नहीं है। इसकी एक सीमा तक उपादेयता है, पर अतिवादी और आदेशमयी प्रवृत्तियों के कारण इसमें अकाव्यात्मक चिन्तन का प्रवेश भी हो गया है। वर्ग-क्रान्ति के प्रचार और सामाजिक यथार्थ के प्रयोजन में ही सम्पूर्ण काव्यत्व समाहित नहीं हो सकता। यह काव्य-समीक्षा अभी रूढ़िग्रस्त है और संकीर्णतामयी अपूर्णता में परितुष्ट। यही इस पद्धति का दोष है। इसमें औदार्य और व्यापकता के गुण तथा असाम्प्रदायिकता के दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता है। काव्यत्व की वस्तुनिष्ठ विवेचना भी इस पद्धति के द्वारा विघटित हुई है। जनवादी काव्य फिर भी काव्य प्रकार है, यथार्थवादी रचना के स्वरूप-विभाजन का एक नमूना। अतएव मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति और प्रगति तथा परम्परा का उसका विश्लेषण काव्यत्व के सम्यक् आकलन से सक्षम प्रमाणित नहीं होता। उसके काव्य-मान एकांगी हैं और अपर्याप्त भी।

हिन्दी में इस आलोचना-पद्धति के प्रधान समीक्षक हैं, शिवदानसिंह चौहान डा. रामविलास, अमृतराय, प्रकाचंद्रगुप्त आदि। संप्रति यह पद्धति दो वर्गों में विभक्त

हो गई है। एक सामाजिक यथार्थवाद का पक्ष है और दूसरा समाज-शास्त्र का पक्ष, जिसे 'कुत्सित' गुण से भूषित किया गया है। यह समीक्षा-पद्धति खण्डन-मण्डन और विरोध-समर्थन के कार्य में ही विशेषतः प्रयुक्त हुई है।

: १० :

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति का प्रयोग आनुषंगिक रूप में होता रहा है, वैज्ञानिक और विशिष्ट प्रणाली का रूप उसे अभी-अभी मिला है। फ्रायड, एडलर और जुंग की मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं को आधार बनाकर जो काव्य-दर्शन आविर्भूत हुआ, वह एक वैज्ञानिक प्रणाली थी और साहित्य-विवेचन का एक दृष्टिकोण। पर उसे एक समीक्षा-पद्धति का गौरव दिया गया है। मानव-मन की अमित गहराइयों की छान-बीन करने का इस विज्ञान और उसकी समीक्षा-धारा ने बीड़ा उठाया है। यह साहित्य को मनःकुंठा का परिणाम और दिवा-स्वप्नों का पर्याय समझता है। फलतः हिंदी-काव्य में प्रतीकों और प्रयोगों का बाहुल्य हो उठा। इस मतवाद के अनुसार काव्य रुग्ण मन की रचना-प्रक्रिया मात्र है। स्वभावतः काव्य के मानसोन्नयनकारी तत्व क्षीण होने लगते हैं। मार्क्सवादी यदि सामूहिक चेतना की एक सीमा स्पष्ट करता है, तो मनोविश्लेषणवादी व्यक्तिगत अनुभूति की दूसरी सीमा। एक समाजवादी और अतिशय बहिर्मुखी पद्धति है तो दूसरी व्यक्तिवादी और अतिशय अन्तर्मुखी पद्धति। दोनों ही वैज्ञानिक वादों पर आधारित हैं, पर एक-दूसरे का परस्पर संबंध छत्तीस के सम्बन्ध की भांति विरोध-मूलक भी है। निश्चय ही दोनों काव्य-चिन्तन के विशिष्ट दृष्टिकोण हैं, समीक्षा के दर्शन नहीं, और दोनों ही सांप्रदायिक भी हैं। ये दोनों ही यथार्थवादी समीक्षा पद्धतियाँ हैं, पर एक रचनाकार की मनःप्रकिया का अन्वेषण करती है और दूसरी रचना के सामाजिक मूल्यों का निर्धारण। काव्य-प्रक्रिया की संपूर्णता को दोनों ही पद्धतियों में स्वीकृत नहीं किया गया। एक ने रचना-प्रेरणा की खोज की और दूसरी ने रचना के लक्ष्योद्देश्यों की व्याख्या। ये दोनों ही शुक्लजी की आदर्शवादी समीक्षा और छायावादी समीक्षा की दार्शनिक विशिष्टता के विरोध में पड़ती हैं। काव्य की समीक्षा के लिए विज्ञान, शास्त्र और दर्शन का एक सीमा तक ही उपयोग किया जा सकता है, मुख्य वस्तु काव्य-कृति ही होती है। उसकी जाँच के लिए किसी किस्म के चश्मे की जरूरत नहीं है। जरूरी यही है कि हमारी दृष्टि साफ हो? ज्ञान-विज्ञान सहायक-मात्र हैं, काव्य-के पैमाने नहीं।

इस पद्धति से एक बड़ा लाभ यह हुआ कि अस्वस्थ्य तथा मनोवैज्ञानिक त्रुटियों से भरे साहित्य की परीक्षा सम्भव हो सकी है। दूसरे साहित्य की सृजनात्मक प्रक्रिया की भी ज 'कारी की जा सकी है। इसके अतिरिक्त भाव-प्रेषणीयता और रस-अलंकार आदि काव्य-लक्षणों की वैज्ञानिक व्याख्या संभव हुई है। समीक्षक की सहजानुभूति को शास्त्रीय आधार तो प्राप्त था ही, उसका वैज्ञानिक संस्कार भी हो सका है। डॉ. नगेंद्र ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षकों में श्री इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, डा. देवराज, नलिन-विलोचन शर्मा आदि परिगणित होते हैं। इस पद्धति के समीक्षकों में अज्ञेय का कार्य, महत्व और प्रभाव हिन्दी में सबसे अधिक है। यूरोप के समीक्षा-संबंधी नए-नए वादों को हिंदी में ले आने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। उन्होंने हिंदी-समीक्षा को नए स्पर्शों का अनुभव कराया है। उनकी विचार सरणी से प्रभावित होकर हिंदी में प्रयोगवादी समीक्षा भी आरंभ हुई है। पर उसका स्तर और प्रकार पत्रकारिता से ऊपर नहीं उठ पाया। वह किंचित् समीक्षा है। इलाचंद्रजी ने मनोविश्लेषण-पद्धति का साफ सुथरा रूप उपस्थित किया और अज्ञेयजी ने लारेंस, ईलियट, पाउण्ड और सार्त्र की विचारधारा का रुग्ण व्यक्तिवाद स्पष्ट। इलाचंद्रजी कथा-साहित्य में ही विशेषज्ञता प्रकट करते रहे और अज्ञेयजी काव्य-क्षेत्र में प्रयोगवाद के द्रष्टा, स्रष्टा और पुरस्कर्ता बने। सैद्धांतिक चर्चा में उन्हें जितनी कृतविद्यता सुलभ हुई, उतनी प्रयोगात्मक समीक्षा में नहीं। वे प्रयोगवाद के विशेषज्ञ सिद्ध हुए। उनकी काव्य-चिंतना हार्मिक साईकालाजी और फ्रायडीय अन्त-श्चेतनावाद पर आश्रित रही। डाक्टर देवराज ने आचार्यत्व के वायुयान से काव्य-वसुधा के चित्र खींचे। नलिनविलोचन जी रूढ़िवाद के विरोधी थे, और मनोविज्ञान के आधार पर काव्य-प्रयोगों की अनिवार्य नवीनता के समर्थक। नरोत्तम नागर रुग्ण प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करने में सिद्धहस्त हैं। नगेंद्रजी अवश्य ही मनोविश्लेषणात्मक उपलब्धियों को छायावादी समीक्षा-पद्धति में अन्तर्भुक्त कर पाए हैं।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा जितनी कथा-साहित्य के लिये उपादेय है, उतनी काव्य-कला के लिए नहीं। वह एकांगी काव्य-दर्शन उपस्थित करती है। इसीके फल-स्वरूप हिंदी में प्रयोगवादी कविता प्रचलित हुई है। मैं समझता हूँ कि काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में यह पद्धति काव्य-रचना के पक्ष को ही विश्लेषित कर सकी है। मानसिक विकृति ही काव्य नहीं है, वह उदात्त भावों से भी सम्बद्ध है। काव्य-कृति के वस्तुगत सौंदर्य की परीक्षा में यह पद्धति कृतकार्य नहीं हो सकती, सहकारी रह सकती है। इन विचार-पद्धति से प्रभावित काव्य विशेषज्ञों की वस्तु होता है, उसकी सहज संवेदनीयता नष्ट हो जाती है।

: ११ :

आधुनिक काव्य-समीक्षा विकासोन्मुखी है। उसका भविष्य भी उज्जवल है। पर पाश्चात्य ज्ञान-विभाग की तेजस्विता के कारण उसकी समीक्षा दृष्टि चौंधियाने लगी है। वह विकट बौद्धिक व्यायाम भी करने लगी है। आवश्यकता इतनी ही है कि हम अपनी काव्य-दृष्टि को धूमिल न होने दें। वह और प्रखर हो सके, इसके लिए प्रकाश अपने भीतर अनुभव करना है। विदेशी ज्ञान का पाचन हो जाए तो उसमें हमें रस ही मिलेगा, अन्यथा बौद्धिक अजीर्ण से स्वस्थ समीक्षा संभव न होगी और अब आई है आधुनिकता के बोध से संबद्ध शुद्ध कविता। यह धारा यथार्थ जगत् की व्यग्रता और बेचैनी देना चाहती है, परितोष या आह्लाद नहीं।

हिन्दी-समीक्षा का विकास पूरी क्षिप्रता के साथ हुआ है। उसकी संभावनाएँ इतनी अधिक हैं कि वह निकट भविष्य में हिंदी के राष्ट्रीय समीक्षाशास्त्र का निर्माण कर सकेगी। समीक्षा के नए प्रतिमान समुपस्थित हैं और उसके मानदण्ड को नित्य नए आवरणों से सज्जित किया जा रहा है। एक ओर भरतमुनि से लेकर शुक्लजी तक तथा दूसरी ओर अरिस्टाटल से लेकर रिचर्डस, इलियट और सार्त्र तक का साहित्य-चिंतन हमारे समक्ष अनावरित हो रहा है। साहित्य की सम्यक् दृष्टि का विस्तार और पैनापन इसी भारोपीय अन्तर्दर्शन पर अवलम्बित है। फिलहाल यही आवश्यक है कि हम ज्ञान और काव्य के क्षेत्रों को सहअस्तित्व प्रदान करें। उन्हें एक दूसरे में मिला न दें। काव्य के सामयिक ही नहीं, स्थायी तत्व पर भी हमें अपनी दृष्टि केंद्रित रखनी होगी तथा भाव-चेतना और बौद्धिक संवेगों के संबंधों और विभेदों को भी आत्मसात् कर लेना होगा। अ-कविता तो मुखरित होने ही लगी है, पर अभी अ-समीक्षा के आगमन की घोषणा नहीं हो पाई है। अवश्य ही यह तात्कालिक आंदोलन है, काव्य का कोई सुनिश्चित् प्रतिमान नहीं।

६

आधुनिक हिन्दी कविता के अध्ययन की समस्याएँ

अहिन्दी क्षेत्र में हिन्दी के अध्यापन की कठिनाइयों का अनुभव स्वभावतः होना ही चाहिए। विद्वानों ने इस तथ्य का यत्र-तत्र स्फुट उल्लेख बराबर किया है। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् इस विषय में गंभीरतापूर्वक सोच-विचार होने लगा। कभी-कभी आरोपों और प्रत्यारोपों की क्षीण ध्वनि भी सुनाई पड़ी। हाल में इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाना आरंभ हुआ है। आगरा के केन्द्रीय हिन्दी संस्थान में इस संबंध के परिसंवाद आयोजित हुए हैं। संप्रति ज्वलंत प्रश्न यह है कि मैथिली, अवधी, ब्रजी और राजस्थानी के काव्य को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाय या नहीं और दिया जाय तो उसे किस शैक्षिक स्तर पर आरंभ किया जाय? प्राचीन साहित्य की उच्चस्तरीय शिक्षा के विषय में प्रायः मतभेद नहीं है। सभी मानते हैं कि हिंदी का उच्चस्तरीय ज्ञान उसके प्राचीन काव्य के अध्ययन के अभाव में अपूर्ण रहेगा। यहाँ इस विवादास्पद विषय पर मुझे अपने विचार उपस्थित नहीं करने हैं। एतदर्थ में परितोष का अनुभव करता हूँ।

आधुनिक कविता

मुझे आज आधुनिक हिन्दी कविता के उच्चस्तरीय अध्ययन की समस्याओं पर ही अपने विचार प्रकट करने हैं। अहिंदी भाषा-भाषी छात्र जब आधुनिक कविता का अध्ययन करता है, अथवा विद्वान उसका अध्यापन करते हैं तब उन्हें वे कठिनाइयाँ स्वभावतः अनुभव नहीं होतीं, जो प्राचीन साहित्य अथवा हिंदी की उपभाषाओं के काव्य का अध्ययन करने में अनुभव होती हैं। आधुनिक हिंदी कविता का माध्यम खड़ी बोली का परिनिष्ठित रूप है। इसी भाषा को उसके व्याकरणिक रूपों के सहित सीख

लिया जाता है, अतएव उच्च-शिक्षा-क्रम में भाषा और व्याकरण संबंधी कोई असुविधा उत्पन्न नहीं होती। आधुनिक काव्य के अध्ययन की समस्याएँ स्थूल और बहिरंग न होकर सूक्ष्म और अन्तरंग हैं। महाविद्यालय के स्तर के विद्यार्थी का भाषा-ज्ञान उतना तो होता ही है कि वह आधुनिक कविता को पढ़ और समझ सके। भाषा का मुहावरा भी वह जानता है। कोश आदि के माध्यम से वह शब्दार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। पर कठिनाई यहीं आरंभ होती है। प्रायः भाषा की जानकारी तथा शब्दार्थों का ज्ञान होते हुए भी कविता विशेष का आशय स्पष्ट नहीं हो पाता। यहीं उसे अध्यापकीय सहायता की अपेक्षा होती है। स्थूल कठिनाई भाषा संबंधी कठिनाई है और बहिरंग असुविधा विषय के ज्ञान से संबंधित है। आधुनिक हिंदी कविता को पढ़ने में इन दोनों प्रकार की कठिनाइयों का अनुभव नहीं होता।

आधुनिक कविता अंतरंग और सूक्ष्मस्तरीय कठिनाइयों को उपस्थित करती है। मैं समझता हूँ कि आधुनिक हिंदी कविता के अध्यापन में प्रत्यक्ष समस्याएँ कम और अन्तर्वर्ती या तात्विक कठिनाइयाँ अधिक हैं। इसी कारण मैं कहना चाहूंगा कि आधुनिक हिंदी कविता के अध्यापन की कोई समस्या नहीं है, यदि है तो मात्र कठिनाइयाँ हैं। भाषा और विषय की समस्या छात्र का मार्गावरोध करती है और वह विषय से विरक्त तथा भाषा से तटस्थ हो जाता है। इसलिए उन समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक या वस्तुमुखी दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। आधुनिक हिंदी कविता की भाषा का ज्ञान और वर्ण्य-विषय का परिचय, यथा-इतिहास, पुराण, धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति, मानव-समाज और प्रकृति इत्यादि—उच्चस्तरीय अध्यापन-कार्य में कोई समस्या उपस्थित नहीं करता। आधुनिक हिंदी कविता का अध्ययन कतिपय अन्तर्वर्ती प्रश्न या कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। मैं इन्हें काव्यवस्तु, काव्य-प्रक्रिया और कवि-व्यक्तित्व-संबंधी कठिनाइयों के रूप में वर्गीकृत करूँगा।

आधुनिक हिंदी-कविता स्पष्टतः दो भागों में विभाजित हो जाती है। अध्ययन की दृष्टि से यह समग्र काव्य विषय-प्रधान और विषयीप्रधान अथवा अन्तर्वृत्तिनिरूपक और बहिर्वृत्तिनिरूपक है या स्वानुभूतिव्यंजक और वस्तुनिरूपक वर्गों में सरलतापूर्वक बंट जाता है। यह गीतिकाव्य तथा वर्णनात्मक काव्य का ही प्रकार-भेद है। हिंदी की प्रबंध-रचनाओं, आख्यानक-कविताओं और विषय प्रधान स्फुट कृतियों को पढ़ने-पढ़ाने में विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं होता—उदाहरणार्थ—भारतेंदु हरिश्चंद्र, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर आदि की रचनाएँ। इन कवियों की रचनाओं में जहाँ कहीं विषयवस्तु के स्थान पर वैयक्तिकता का तत्व प्रधान हो उठा है, वहीं कविता का अध्ययन परिश्रम साध्य हो जाता है। मैं समझता हूँ कि प्रबंधात्मक कृतियों की अपेक्षा प्रगीत रचनाएँ अधिक कठिन जान पड़ती हैं। प्राचीन हिंदी कविता में विषय-निष्ठता और निर्वैयक्तिकता इतनी प्रधान रही है कि कोई भी गीति या प्रबंध रचना भारत

के किसी भी प्रदेश में भावधारा, विषयवस्तु या अभिव्यक्ति प्रणाली की दृष्टि से जातीय या विलक्षण वस्तु नहीं समझी गई। भाषा-भेद के अतिरिक्त वह किसी भी भारतीय भाषा के काव्य से असम्बद्ध नहीं जान पड़ती। इसका कारण यही है कि प्राचीन काव्य में भारत के सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। वह साधारणीकृत मनोवृत्ति का काव्य है, व्यक्ति वैचित्र्य निदर्शक रचना कार्य नहीं। इस कोटि में अधिकांश नवोत्थानवादी काव्य स्थान पाता है। इसी कारण अहिंदी क्षेत्रों में छायावादी कवियों की अपेक्षा मैथिलीशरण अधिक लोकप्रिय हैं और बच्चन की अपेक्षा दिनकर जनमानस पर अधिक अधिकार रख सके हैं। आशय यह है कि आधुनिक युग का नवोत्थानवादी काव्य छायावादी कविता की अपेक्षा अध्ययन की दृष्टि से न्यूनतम समस्याएँ उपस्थित करता है। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा की कविता भारत के व्यापक जीवन को अभिव्यक्त करती है, पर छायावादी कविता व्यक्तिविशेष के सौंदर्यबोध की व्यंजना करती है। इसी प्रकार उत्तरछायावादी कविता के भी दो वर्ग हैं। समाजवादी या प्रगतिवादी कविता के अध्ययन में विशेष कठिनाई अनुभव नहीं होती, पर व्यक्तिवादी कविता को समझने में विशेष असुविधा जान पड़ती है। यह व्यक्तिवादी काव्य, जिसमें काव्य-परम्परा की अस्वीकृति और अधुनातन जीवन की परिणतियों में संपृक्ति है और जो अमरीकी या युरोपीय जीवन-दर्शन को और वहाँ के नए काव्य सिद्धान्तों तथा अभिनव रचना-प्रभावों को ग्रहण करती है, अध्ययन के क्षेत्र में नएपन के कारण झुंझलाहट का अनुभव कराती है। संक्षेप में, आधुनिक कविता की छायावादी और परवर्ती व्यक्तित्ववादी धारा अध्ययन की दृष्टि से जितनी कठिनाइयाँ उपस्थित करती हैं, उतनी नवोत्थानवादी या समाजवादी कविता नहीं। निष्कर्ष यह है कि साधारणीकृत और विषय-निष्ठ काव्य-अध्ययन की दृष्टि से व्यक्तिनिष्ठ, प्रगीति रचना या निबंध कविता की अपेक्षा न्यूनतम समस्याएँ उपस्थित करता है। यह भी सत्य है कि व्यक्ति-प्रधान कविता में भाव-संप्रेषण की सहज बोधव्यता कम होती है और उसी अनुपात में उसकी रसात्मकता विरल या क्षीण हो जाती है।

काव्य-वस्तु

अब हमें आधुनिक कविता के अध्ययन की समस्याओं का काव्यवस्तु, काव्य-प्रक्रिया और कवि-व्यक्तित्व विषयक सन्दर्भों में परीक्षण करना चाहिए। हमें अपना लक्ष्य आधुनिक युग की व्यक्तिप्रधान कविता या छायावादी या नयी कविता पर केन्द्रीत करना होगा। कारण स्पष्ट है कि राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की नवोत्थानवादी धारा और सामूहिक चेतना की प्रगतिवादी धारा उच्चस्तरीय अध्ययन में कम से कम उलझनें पैदा करती हैं। इन्हें समझने के लिए आधुनिक भारत की सांस्कृतिक चेतना और समाजवादी विचारधारा का काव्येतर ज्ञान पर्याप्त है। इन्हें हमारा वर्तमान अध्यापक और आधुनिक छात्र दोनों भलीभांति जानते और समझते हैं।

आधुनिक कविता की काव्य-वस्तु नवीन जीवन-दृष्टि की परिचायक है। प्राचीन विषयों को आधुनिक विचार-प्रवृत्तियों के आलोक में देखा-परखा गया है, जैसे, 'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत' को नवीन बुद्धिवाद को अस्वीकृत करके हृदयंगम नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कामायनी, कुरुक्षेत्र, अंधा-युग, और तुलसीदास को आधुनिक भावबोध के अभाव में ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। आशय यह है कि काव्यवस्तु को हमारे कवि ने नवयुग की चेतना से अनुप्राणित किया है। जिन विषयों के आधार प्राचीन घटनावृत्त या लोक-विश्रुत पात्र नहीं हैं, उनके निरूपण में आधुनिक मनोभावना की अभिव्यक्ति निर्व्याज और सहज है। पर इसी कारण यदि वह वर्णनात्मक काव्य नहीं है तो उसकी सुगमता बाधित हुई है। आधुनिक युग की वर्णनात्मक कविता का उदाहरण 'भारत-भारती', या 'राजा-प्रजा' है और दूसरे प्रकार की रचनाएँ आँसू, ग्रंथि, सरोज-स्मृति आदि हैं। अकथात्मक काव्य के वस्तुतत्व का यदि विश्लेषण किया जाए तो सर्वप्रथम हमें कवि के भाव-बोध अथवा सौंदर्य संवेदन की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। यह भावबोध रहस्य-जिज्ञासा, स्वच्छंद-प्रेम, वैयक्तिक-प्रतिक्रिया, सामाजिक चेतना, आदि अनेक रूपों में प्रकट हुआ है। कहीं उदात्त भाव चेतना की विवृति हुई है तो कहीं कुंठा की अभिव्यक्ति। कहीं अहं का विस्फोट हुआ है तो कहीं निराशा का संगीत अभिव्यक्त। कहीं काल्पनिक भाव-लोक की सृष्टि हुई है तो कहीं यथार्थजीवन को झेलने या भोगने की छटपटाहट प्रकट। कहीं आशा का उल्लास है तो कहीं निराशा का अवसाद। स्पष्टतः काव्यवस्तु का सीधा संबंध है कवि या व्यक्ति विशेष की भाव-प्रक्रिया अथवा जीवन-दृष्टि के साथ। इसी कारण उसमें वैविध्य है। आधुनिक-कविता में प्राचीन और अर्वाचीन, सामाजिक और वैयक्तिक तथा काल्पनिक और यथार्थ सभी प्रकार की काव्यवस्तु प्रयुक्त हुई है।

आधुनिक कविता में जिन विषयों पर रचना हुई है, वे इस प्रकार हैं—रहस्य, नारी, प्रकृति, समाज और उसके विविध वर्ग, व्यक्ति विशेष या कवि, राज्य-व्यवस्था, आर्थिक-स्थिति, भविष्य-कल्पना, समसामयिक जीवन, देशप्रेम और राष्ट्रीयता, अतीत-प्रेम, धार्मिक-सांस्कृतिक या मानवीय एकतामूलक समन्वय-दृष्टि, विश्वजीवन का अतीत और वर्तमान आदि। आशय यह है कि आधुनिक कविता की काव्यवस्तु अतिशय व्यापक है। वह विषय-प्रधान कविता हो या विषयीप्रधान, उसमें संसार का छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, सर्वथा नवीन और अतिशय प्राचीन, प्रत्यक्ष या परोक्ष, जड़ या चेतन सभी प्रकार की विषय-वस्तु का आकलन हुआ है। इस कविता के विद्यार्थी को सर्वप्रथम काव्यवस्तु की स्पष्ट धारणा बना लेनी चाहिए। वह विविध प्रकार की अभिव्यक्ति-भंगिमा को लिए हुए है। इसलिए मूल काव्य-वस्तु भावना, कल्पना या विचारणा अथवा कोई विषय हो सकती है। यदि वह कोई कथा या प्रत्यक्ष विषय नहीं है तो उसके वैचारिक, कल्पनाप्रसूत या भावात्मक स्वरूप को समझ लेना नितांत आवश्यक है।

अब मैं काव्यवस्तु के अंतर्मुख रूपों के उदाहरण प्रस्तुत करूँगा। कथात्मक या विषय-प्रधान रूप अपने आप में इतने सुस्पष्ट हैं कि उसके लिए उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है। यों विषय प्रधान कविता के रूप में "भारत-भारती" और कथात्मक रचना के रूप में "पथिक" या "पंचवटी" को काव्यवस्तु का उल्लेख हो सकता है। इनके स्पष्टीकरण में विशेष आयात अपेक्षित नहीं है। जिस काव्य में भाव ही काव्य-वस्तु बन जाता है, वह मुख्यतः गीति काव्य होता है और उसके उदाहरण के रूप में अधिकांश छायावादी काव्य रक्खा जा सकता है। प्रसाद के प्रेम-विषयक और महादेवी के वेदना-संबंधी गीत इस प्रकार के अच्छे उदाहरण हैं--यथा--"शून्य मंदिर में बनूंगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी!" और 'तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन' पहले गीत में रहस्यमय प्रेम की निश्चयात्मक परिणति प्रकट हुई है और दूसरे गीत में श्रद्धा के मानसिक स्वरूप को भावात्मक रूपछटा दी गई है। जहाँ काव्यवस्तु कल्पना-प्रधान 'हैवहाँ भी भाव-चित्रों की भाँति सूक्ष्म चित्रण कला प्रयुक्त हुई है। पंत जी की काव्यवस्तु विशेषतः कल्पना-प्रधान है। प्रसाद के सौन्दर्य-चित्र भी प्रायः कल्पनाजन्य हैं। निराला की कृति 'जुही की कली' और 'संध्या-सुन्दरी' इस प्रवृत्ति के सुन्दर उदाहरण हैं। प्रसाद का यह गीत---'तुम कनक किरण के अन्तराल में लुकछिप कर चलते हो क्यों?' नवयुवती की सलज्ज सुन्दरता का नयनाभिराम चित्र है, जिसकी काव्यवस्तु का स्वरूप मूलतः काल्पनिक है। आधुनिक कवियों में कल्पनावस्तु का शुद्ध और सुन्दर प्रयोग पंतजी की कविता में दिखाई पड़ता है। उनकी 'बादल' और 'छाया' शीर्षक रचनाओं में अनेक कल्पनाचित्रों की एक साथ संयोजना हुई है। 'संध्या-तारा', 'चाँदनी', 'परिवर्तन', या 'गंगा', में प्राकृतिक सौंदर्य का कल्पनाशील चित्रण हुआ है। निराला की 'संध्या सुन्दरी' और पंत की "नौका-विहार" या 'मौन निमंत्रण' रचना का काल्पनिक काव्य-वस्तु के उदाहरण के रूप में शीर्ष स्थान है।

कहीं-कहीं आधुनिक कविता में वैचारिक प्रवृत्तियों या मानसिक गतियों का चित्रण हुआ है। प्रसादजी ने मनोवृत्तियों के स्वरूप का चित्रण 'कामायनी' में किया है। पंत का अधिकांश अरविंदवादी और प्रगतिवादी काव्य विचार या दर्शन को स्पष्ट करने का प्रयास है। प्रसाद के काव्य में आनंदवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है और निराला की कृतियों में अद्वैत चिंतन का व्यक्तीकरण हुआ है। महादेवी ने सर्ववादी दर्शन का आधार अपनाया है। इसी प्रकार हमारे नए कवि कहीं नवमानववाद, कहीं समाजवाद, कहीं अस्तित्ववाद या कहीं मनोवैज्ञानिक संदर्भों की अभिव्यक्ति करते हैं। जिन रचनाओं में विचार तत्व प्रधान हो उठा है, वे कविताएँ सांकेतिक या प्रतीकात्मक हो गई हैं। जहाँ दर्शन-काव्य-संदेश के रूप में अभिव्यक्ति पाता है, वहाँ काव्यवस्तु क्लिष्ट और सदोष नहीं है। हमारे नए कवियों को बुद्धि रस का आविष्कार करना पड़ा है। आशय स्पष्ट है कि उत्तर-छायावादी कविता में कविता का अध्ययन विचारवस्तु के आधार पर ही हो सकता है और छायावादी कविता मुख्यतः

कल्पना छवियों और अनुभूति-चित्रों की सूक्ष्म या सांकेतिक व्यंजना शैली को अपनाती है। अतएव आधुनिक कविता की विशिष्ट भावस्थिति, कल्पनावस्तु या विचारतत्व को ठीक-ठीक समझ पाने में छात्रों को कठिनाई अनुभव होती है। यह काव्यवस्तु सूक्ष्म और मनोमय अधिक है। कल्पना की अधिकता के कारण कहीं वह वायवीय, वैचारिक आग्रह के कारण कहीं वह जटिल, और संवेदना प्रधान होकर कहीं वह अन्तर्मुख हो जाती है। इसी कारण काव्य-वस्तु की स्पष्ट धारणा बनाते हुए विद्यार्थी प्रायः चकराता है। काव्य-वस्तु का मूल आशय काव्याभिव्यक्ति के माध्यम से स्पष्ट होता है। इसीलिए अब हमें काव्य प्रक्रिया जन्य कठिनाइयों से भी परिचित हो लेना चाहिए। संक्षेप में, आधुनिक कविता की काव्यवस्तु अधिकांशतः अभिनव, अंतर्मुख और दार्शनिक चेतना अथवा वैज्ञानिक अन्तःप्रकाश को लिए हुए है। यह सर्वत्र मूर्त, प्रत्यक्ष अथवा प्रकृत नहीं है। जो विद्यार्थी काव्य-वस्तु संबंधी गुत्थी को सुलझा लेता है, वह आधुनिक कविता का प्रेमी बन जाता है, क्योंकि व्यष्टि या समष्टि रूप में उसका युग जीवन ही इस कविता में रूपायित हुआ है। निश्चय ही इस काव्य-वस्तु को सप्रयास स्पष्ट करना होगा और इसके अंतरंग-तत्व का परिचय बहुज्ञता और नवीनतम विचारसरणियों को ग्रहण कर पाने की क्षमता पर निर्भर करेगा। इसका अर्थ यह भी है कि आधुनिक कविता के अध्ययन के लिए मध्ययुगीन चेतना सहायक नहीं होगी।

काव्य-प्रक्रिया

आधुनिक कविता की रचना प्रक्रिया निःसन्देह अभिनव है। आधुनिक मनोभावना की अभिव्यक्ति न प्राचीन काव्यरूपों और न प्रचित अभिव्यंजना-शैलियों के द्वारा सम्भव है। खड़ीबोली की पदावली का क्रमशः संस्कार किया गया है और उसकी व्यंजना-शक्ति में अपूर्व अभिवृद्धि हुई है। आधुनिक कविता के अध्येता को इस नवीन काव्य प्रक्रिया से परिचित होना ही पड़ता है। जहाँ तक विषयप्रधान और वर्णनात्मक कविता का सम्बन्ध है, आधुनिक अभिव्यंजना का स्वरूप प्रायः स्थूल और सुप्रकट है। उसमें खड़ीबोली की पदावली, नवीन छन्द शिल्प, काव्य-रूपों का नया विकास और परम्परा से उपलब्ध काव्य-प्रसाधनों का आवश्यक हेर-फेर के साथ अनुवर्तन किया गया है। काव्य रूपों की नवीनता के उदाहरण-यशोधरा, द्वापर, कामायनी, ऊर्वशी लोकायतन आदि हैं। छोटी या बड़ी कविताओं का नव्य रूप प्रायः पत्र-पत्रिकाओं के आग्रह एवं अंग्रेजी कविता के प्रभाव के कारण अपनाया गया है। ये रचनाएँ विषयप्रधान या कथात्मक होती हैं। इस प्रकार की अभिव्यंजना-संबंधी नवीनता अध्ययन-कार्य में कोई महत्वपूर्ण असुविधा नहीं उत्पन्न करती। जो रचनाएँ व्यक्तिनिष्ठ, अनुभूति-प्रधान, अतिशय बौद्धिक अथवा प्रगीतात्मक हैं, उनकी काव्य-प्रक्रिया को समझने के लिए विशेष आयास की आवश्यकता होती है, अन्यथा कविता का आशय तक स्पष्ट नहीं हो पाता। इस प्रकार की कविता को हम रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से तीन वर्गों में

विभक्त करेंगे— यथा १–छायावादी, २–प्रगतिवादी या जनवादी और ३–प्रयोगवादी या नई कविता। छायावादी कविता का अभिव्यंजना पक्ष विशेषतः समृद्ध है। यह निश्चित् रूप से कलावाद का पर्याय नहीं है, पर इसे काव्य को कोई इतर प्रयोजन भी मान्य नहीं है। यह न नीतिवादी कविता है न उपदेशात्मक रचना-कार्य। अनुभूति और अभिव्यक्ति के अविच्छिन्न सौष्ठव की सृष्टि करना इस धारा के कवि का लक्ष्य होता है। स्पष्टतः छायावाद में अनुभूति पक्ष जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही अभिव्यक्ति पक्ष। इसी प्रमुखता को लक्षित करके आचार्य शुक्ल ने इस धारा को अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली माना था। हम देखते हैं कि रचना चाहे प्रबंध हो, मुक्तक हो या प्रगीत, सर्वत्र विषयी प्रधान काव्य-प्रक्रिया गृहीत हुई है। छायावादी कवि मुख्यतः गीति-कवि हैं। यह विशेषता 'आंसू', 'कामायनी' और 'तुलसीदास' में ही नहीं है, 'साकेत' और 'यशोधरा' में भी घर कर गई है। छायावादी कविता वर्णनप्रधान कविता के विरोध में जन्मी और प्रगीत-पद्धति को अधिक कलात्मक रचनाकार्य समझा गया। इसके अन्तर्गत काव्य-वस्तु कवि की अनुभूति के माध्यम से अभिव्यंजित होती है। अतएव अनुभूति का स्पष्टीकरण होने के बाद ही विषयवस्तु का आकलन हो पाता है। इसी कारण छायावादी कविता अपने सहजात आकर्षण के बावजूद अध्ययन की दृष्टि से दुरूह ज्ञात होती है।

छायावादी कविता की पदावली अभिधा विशिष्ट नहीं है। वह प्रायः लाक्षणिक है और उसमें भावव्यंजना और रूप-चित्रण का विशेष आयोजन हुआ है। इसमें प्रायः लाक्षणिक प्रतीक विधान हुआ है और उपमानों का प्रतीक रूप में प्रयोग किया गया है। इसकी पद रचना लाक्षणिक ही नहीं, अलंकृत भी है। उसमें उपमानों का चयन कहीं-कहीं प्रभाव-साम्य के आधार पर ही हुआ है। कहीं प्रस्तुत की अवहेलना की गई है और कहीं अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना हुई है। अलंकार ध्वनि के भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। इसमें अप्रस्तुत योजना के भीतर ही व्यंग्य-व्यंजक भाव का सम्बन्ध लक्षित होता है, अर्थात् व्यंजना ही कवि को अभीष्ट होती है। जहाँ कहीं प्रस्तुत विधान के द्वारा बिम्ब-ग्रहण कराया गया है, वहाँ यह कविता सरल ज्ञात होती है। लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता के कारण अमूर्त का मूर्त विधान दिखाई पड़ता है, जिसमें लक्षणा पर लक्षणा की गई है और सूक्ष्म को मूर्त्त बनाया गया है, जैसे प्रसाद की यह उक्ति—'इस करुणा कलित हृदय में, क्यों विकल रागिनी बजती ?' इसी प्रकार धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग हुआ है—यथा—पंत की यह उक्ति—"चांदनी का स्वभाव में भास, विचारों में बच्चों की सांस।" छायावादी अभिव्यंजना में मूर्त्त का अमूर्त्त विधान दिखाई पड़ता है और धर्मी के लिए धर्म का प्रयोग भी। पंत रचित 'ग्रंथि' काव्य में इसके अच्छे उदाहरण हैं। अभिव्यंजना के नए प्रकारों के रूप में विशेषण विपर्यय का प्रयोग हुआ है—यथा—"चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दाधाम ?"

अंग से अंगी का बोध कराना और अंग में भावपूर्ण विशेषण लगा देना—यथा—सियारामशरण गुप्त की यह उक्ति—"कमर ने सिर सा झुका दिया" और पंत की यह उक्ति—"वेदना ही के सुरीले हाथ से" क्रमशः इन प्रवृत्तियों के उदाहरण हैं। इसी प्रकार इंद्रियों के गुणों का विपर्यय भी दिखाई पड़ता है—जैसे "तुम शैशव स्मृति-सी सुकुमार" में स्मृति दृश्य वस्तु है और सुकुमारता अस्पृश्य वस्तु अथवा 'उन्मत्त कर लोचनों को निज सुरा की कांति से' उक्ति। 'सुरा' को पीकर उन्मत्तता आती है और कांति दृश्य गुण है। लोचन न सुरा पीते हैं न तज्जन्य मादकता से ग्रस्त होते हैं। यहां मुख और लोचन के व्यापार एकीकृत हो गए हैं। इस संबंध में एक उदाहरण और देखिए—'सिकता की सस्मित सीपी पर, मोती की ज्योत्सना रही विचर' उक्ति में 'मोती' की चाँदनी से समता ही नहीं दिखाई गई है, बलिक उसे एकात्मता प्रदान की गई है। कवि का आशय इतना ही है कि चाँदनी रात में रेत मोती की तरह चमक रही है। छायावादी कवि की रचना-प्रक्रिया प्रगीतात्मक है और वह लाक्षणिक शैली और व्यंजक छवियों को लिए हुए है। इसमें स्वानुभूति और अंतरंग सौंदर्य रूपों की कलात्मक अभिव्यंजना हुई है। कहीं-कहीं शब्दों की उच्चारण ध्वनि ही अर्थव्यंजक हो जाती है। काव्य-प्रक्रिया की दृष्टि से यह सारा काव्य कल्पना विशिष्ट है, अतएव कवि-कर्म की सूक्ष्मताओं से परिचित हुए बिना कविता के मर्म का उद्घाटन नहीं हो पाता।

छायावादी कविता में न केवल प्रगीत-शिल्प का वैविध्य दिखाई पड़ता है, वरन् उसका छंद-विधान भी अभिनव है। प्रबंधात्मक प्रगीत से लेकर सुगेय प्रगीत तक की रचना की गई है, जिसके नाना रूप और प्रकार उपलब्ध होते हैं। छंद-विधान की दृष्टि से भी न केवल छन्दों का नया प्रयोग अथवा भावानुरूप गठन दिखाई पड़ता है, बल्कि वह स्वच्छंद और मुक्त छंदों के रूप में भी सफलतापूर्वक प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार छायावादी कविता नवीन काव्य-शिल्प को लिए हुए है। वह सूक्ष्म चित्रण और कोमल व्यंजना का काव्य है। उसमें स्वानुभूति का कल्पनाशील चित्रण हुआ है। मैं समझता हूँ कि इस रचना-प्रक्रिया को भलीभाँति समझ लेने पर अध्येता को कोई कठिनाई अनुभव नहीं होगी। इस काव्य-प्रक्रिया को आत्मसात् कर लेने की आवश्यकता अवश्य है। परितोष इस बात का है कि इस प्रकार की स्वच्छन्द काव्य-प्रवृत्ति का उन्मेष भारत की अन्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है, इसलिए तुलनात्मक दृष्टि को अपनाकर यह कठिनाई दूर की जा सकती है।

प्रगति समर्थक जनवादी कविता में लोकजीवन का स्वर-ताल ही नहीं, आंचलिक शब्दावली का व्यवहार भी हुआ है। लोक-जीवन की शब्दावली को ग्रहण कर पाने में स्वभावतः कठिनाई पैदा होती है। यहां कोश भी हमारी सहायता नहीं करते। लोक-संगीत की ध्वनि तो आकर्षक लगती है, पर लोक-जीवन की शब्दावली अध्ययन

कार्य में व्यवधान पैदा करती है। प्रसन्नता की बात है कि ऐसी रचनाएँ कहीं पाठ्यक्रम में स्वीकृत नहीं हैं। प्रगतिवादी काव्य में प्रायः अभिधाविशिष्ट पदावली, व्यंग्यात्मक-शैली, आक्रोश या करुणा को उद्रिक्त करने वाली बिम्ब योजना और मुक्त वृत्त या लम्बे छन्दों का प्रयोग हुआ है। इस काव्य-धारा की अध्ययन की दृष्टि से और कोई समस्या नहीं है।

नयी या प्रयोगवादी कविता की रचना-प्रक्रिया वस्तुतः एक स्वतंत्र समस्या है। इसमें कवि सामान्य व्यक्ति न रह कर व्यक्ति विशिष्ट बन जाता है और अपने यथार्थ जीवन की संवेदनाओं को वह जब प्रकट करता है तब उसे अभिव्यक्ति संबंधी नए और अनोखे प्रयोग करने पड़ते हैं। यह कविता बुद्धि-विशिष्ट होने के कारण प्रायः गद्यात्मक होती है। इसमें छन्द की लय के स्थान पर अर्थ की लय ही उपादेय समझी जाती है। इसमें उपमान और शब्द-संयोजन के अभिनव प्रयोग होते हैं अर्थात् वे अपरम्परित होते हैं। कहीं मनोवैज्ञानिक दृष्टि, कहीं विचारों का मुक्त संगठन, कहीं चेतना-प्रवाह और कहीं वैयक्तिक सन्दर्भ और शास्त्रीय प्रतीकों का व्यवहार होता है। इस कविता की रचनाशैली सर्वथा नवीन होने के कारण अपरिचित और अग्राह्य अनुभव होती है। जहाँ कहीं मध्यवर्गीय नागरिक जीवन के साधारण बिम्बों का विधान हुआ है, वहाँ यह कविता सहज और संवेदनात्मक हो गई है। पर वह अधिकांशतः बौद्धिक जटिलता को लिए हुए, वैज्ञानिक शब्दावली से ओतप्रोत, स्वच्छन्द प्रतीकों से संपन्न और ऐसे नए उपमानों से अलंकृत होती है जो वास्तविक होते हुए भी हमारे सौंदर्य-संस्कारों के अनुकूल नहीं होते। आलोचकों ने इस रचना-कार्य को "भदेस" और काव्येतर वस्तु भी कहा है। इसमें जीवन के नए यथार्थ की अपरम्परित अभिव्यक्ति हुई है। जहाँ कहीं यह रचना अतिवैयक्तिकता या व्यक्तिविशिष्टता से ग्रस्त नहीं है और इसमें प्रयोगबाहुल्य का अभाव है, वहाँ यह सरल और सुबोध है। इस कविता में भावुकता को आधुनिक मनोवृत्ति का प्रतिकूल तत्व समझा गया है, इसीलिए यह कविता रसात्मक नहीं है। जहाँ छायावादी कविता में काल्पनिक आदर्शवाद की अभिव्यंजना हुई है, वहाँ नई कविता में कटु और ठोस यथार्थ की अवतारणा की गई है। लघु मानव की धारणा बनाकर 'किंचित कविता' या 'अकविता' की समकक्षता करने वाली जो काव्य-प्रक्रिया अपनाई गई, वह सर्वत्र सप्रेषण की शक्ति से सम्पन्न नहीं बन पाई। सामान्य मानव के स्थान पर विशिष्ट मानव की मनःस्थिति को प्रकट करने के कारण यह रचना मानव मात्र का संवेद्य विषय नहीं रही। महानगरों में रहने वाले मध्यवित्त श्रेणी के बुद्धिजीवी वर्ग का ही इसमें प्रतिनिधित्व हुआ है, इस कारण इसकी काव्य-प्रक्रिया इसी कोटि की विशिष्टता को लिए हुए है। अहिंदी क्षेत्रों में भी नई कविता से मिलती-जुलती रचनाएँ लिखी जा रही हैं, अतः यह धारा सार्वदेशिक नए रचना-कार्य का प्रतीक है। अत्याधुनिकता और सामयिकता का जिन बुद्धिजीवियों को सम्यक् बोध है, उन्हें ये कविताएँ कदाचित् सुबोध जान पड़ें। हमारे अध्यापकों और छात्रों

का जीवन भी अधिकांशतः इसी कोटिक्रम की वस्तु बना हुआ है। नई कविता अभी अपवाद रूप में ही कहीं-कहीं पाठ्यक्रम में स्वीकृत हुई है। इसे तेलुगू की दिगम्बर-कविता के समकक्ष समझना चाहिए।

कवि-व्यक्तित्व

आधुनिक कविता के कवि-व्यक्तित्व विषयक प्रश्न पर अभी और विचार कर लेना शेष है। जो कविता प्रथित प्रतिमानों और चिर-परिचित जीवन-दृष्टियों से सम्पन्न होती है, उसका अर्थ-ग्रहण अपेक्षाकृत सरल होता है। इसीलिए महाकाव्यों में लोक-प्रसिद्ध नायकों की अवतारणा की गई है और चतुर्वर्ग की फलप्राप्ति को काव्योद्देश्य माना गया है। आधुनिक हिंदी कविता भारत के सांस्कृतिक नवोत्थान का प्रतिनिधित्व करती है। अतएव उसमें युग-चेतना की अभिव्यक्ति प्रधानतः हुई है। कवि व्यक्तित्व के महत्त्व का यह कारण है कि अपने युग की सप्राणता को उसने किस भांति आत्मसात् किया? वह किसी सीमा तक परम्परा का अनुगमन करता है? किस रूप में वह अपने युग जीवन से सम्पृक्ति रखता है और किस अनुपात में इतरदेशीय साहित्यिक या वैचारिक प्रभाव ग्रहण करता है? कवि का परिवेश और उसका व्यक्तित्व इस दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। इस संबंध में स्पष्ट धारणा न रख पाने के कारण आधुनिक कविता को समझने में कठिनाई अनुभव होती है। साहित्य के स्थायी मूल्यों के आधार पर ही अन्ततः इस कविता की परीक्षा करनी होगी, पर अध्ययन की दृष्टि से कवि और उसके युग-जीवन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कवि-व्यक्तित्व का निर्माणयुग-जीवन की पीठिका पर होता है। कविता के अन्तर्गत वह जीवन-दृष्टि या विचारधारा, सामयिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया और वैयक्तिक जीवन के संदर्भों के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतएव कवि-व्यक्तित्व के अंग हैं—व्यक्तिगत संदर्भ, संवेद्य परिस्थितियां और विचारधारा। यदि हम कविता के भाव या आशय को यथोचित परिप्रेक्ष्य में नहीं रखेंगे तो उक्त भाव या आशय न केवल दुर्बोध जान पड़ेगा, बल्कि उसका अंतरंग सौंदर्य भी अनुद्घाटित रह जायगा। उच्चस्तरीय छात्रों को कवि-व्यक्तित्व का परिज्ञान होना ही चाहिए। हिंदी की स्वच्छन्दतावादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की कविता के लिए इस प्रकार क अध्ययन की कहीं अधिक आवश्यकता होती है।

मानव-जीवन इतना जटिल है और मनोजगत् इतना बहुमुखी कि कवि की जीवनी मात्र के अध्ययन से हम उसकी कविता के साथ समुचित न्याय नहीं कर सकते, फिर भी कुछ अंतरंग वस्तुओं की जानकारी तो अवश्य होनी ही चाहिए। किस रचना में कौनसा व्यक्तिगत सन्दर्भ रक्खा गया है, किस परिस्थिति का चित्रण हुआ है अथवा किस मत या विचार का प्रतिपादन किया गया है तथा उसकी भावभूमि कैसी है, यह

जानना नितांत आवश्यक है। आधुनिक कविता को समझने के लिए न केवल आधुनिक जीवन का सांस्कृतिक इतिवृत्त ज्ञात होना चाहिए बल्कि रचनाकार के प्रति भी सहानुभूति शील दृष्टि रखी जानी चाहिए।

आधुनिक हिन्दी की नवोत्थानवादी कविता के अध्ययन में कवि-व्यक्तित्व की प्रेरणाओं और उस पर पड़े हुए प्रभावों की छानबीन आवश्यक होगी। छायावादी कविता वस्तुमुखी रचना-व्यापार नहीं है, अतएव उसके अध्ययन में कवि के वैयक्तिक जीवन की अभिज्ञता और उसकी जीवन-प्रवृत्तियों की जानकारी उसकी कृतियों को समझने के लिए अपरिहार्य होगी। व्यक्तित्व की छानबीन को विचारधारा, वैयक्तिक जीवन-संदर्भ अथवा काव्य-वस्तु के नाम-रूप के अध्ययन तक सीमित किया जा सकता है। प्रसाद आनन्दवादी हैं और पंत अरविंदवादी, इसका परिज्ञान जीवन-दर्शन से सम्बद्ध वस्तु है। 'आँसू' रहस्यवादी काव्य है या नहीं अथवा 'सरोज स्मृति' निराला के व्यक्तिगत शोक की अभिव्यक्त है अथवा नहीं, ये व्यक्तिगत जीवन-संदर्भों के उदाहरण हैं। पंत की 'नौका-विहार' रचना कहाँ रची गई और 'ग्रंथि' में कहाँ की प्रकृति चित्रित हुई, इनका उत्तर काव्य वस्तु के नाम-रूप से संबंधित है। इस प्रकार कवि-व्यक्तित्व के अन्तर्गत उसकी जीवन-दृष्टि और उसकी देश-काल की चेतना अध्ययन का विषय होनी चाहिए। किन्हीं रचनाओं में व्यक्तिगत जीवन-संदर्भों की जानकारी अनिवार्य हो जाती है, जैसे—मैथिलीशरण गुप्त रचित 'द्वापर' काव्य की मूलवर्ती आवेशमयी मनःस्थिति का क्या कारण है? उनके दो पुत्रों के निधन की जानकारी न रखने पर 'साकेत' और 'द्वापर' के शैली-भेद को समझा नहीं जा सकेगा।

प्रगतिपरक या जनवादी कविता में सामयिक घटनाओं और सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण होता है। जीवन का यह वस्तुपक्ष कवि ने किस रूप में गृहीत किया, उसकी अपनी क्या प्रतिक्रिया हुई और उसने किस सन्देश की अभिव्यक्ति की, इसकी जानकारी कवि और उसके युग के पारस्परिक घात-प्रतिघात को समझे बिना नहीं हो पाती। नई कविता नितांत वैयक्तिक भूमिका पर रची जाती है। उसकी वैचारिकता विभिन्न दार्शनिक मन्तव्यों को लिए हुए है। अतएव नई कविता या प्रयोगशील कविता को समझने के लिए कवि-व्यक्तित्व का विश्लेषण और भी अधिक गहराई में जाकर करना होगा। नई विचारधारा अनेकमुखी है, उसकी भावसंपदा मन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती है और उसकी अभिव्यक्ति प्रक्रिया सर्वथा अभिनव ही नहीं, सर्वांशतः वैयक्तिक भी है। इसलिए इस कविता का अध्ययन छात्रों से बहुज्ञता और विशिष्ट आयास की अपेक्षा रखता है। यह रचना-कार्य अभी विकासशील है, अर्थात् इसका कर्तृत्व अपरिसमाप्त है। जब तक इसका स्वरूप सम्यक् आकार नहीं प्राप्त करता या यह रचना कार्य संपूर्ण नहीं हो जाता, तब तक इसके संबंध में 'इदमित्थम्' नहीं कहा जासकता। इसी कारण इसका अध्ययन समसामयिक रचना-कार्य के रूप में ही किया जाना चाहिए।

मूल्य

अस्तु, हम देखते हैं कि कवि-व्यक्तित्व को समझे बिना काव्य-वस्तु अस्पष्ट रह जाती है और काव्य-प्रक्रिया से अवगत हुए बिना कविता का बिम्ब-ग्रहण या रसास्वादन तो दूर रहा, अर्थग्रहण तक नहीं हो पाता। काव्य-प्रक्रिया माध्यम या कार्य है और कवि-व्यक्तित्व सर्जक या कारण। इन तीनों पक्षों को भलीभांति समझ लेने पर आधुनिक कविता का अध्ययन-वृत्त पूरा हो जाता है। अब इसके मूल्यांकन की समस्या उपस्थित होती है। कविता का मूल्य क्या है, वह रस या सौंदर्य का आस्वादन है या नैतिकता या उपादेयता का तत्व ? हमारी विषयप्रधान कविता नैतिक चेतना या उपादेयता के गुण को लिए हुए है, पर व्यक्तिनिष्ठ और स्वच्छन्द प्रवृत्तियों की कविता उपादेयता के स्थूल मानदंड को स्वीकार ही नहीं करती। वह कला या सौंदर्य की सृष्टि है और नयी कविता आधुनिकता की अभिव्यक्ति मात्र है, पर उसे भी अन्ततः उपयोगिता के दृष्टिकोण से नहीं परखा जा सकता। आधुनिक कविता को इस दृष्टि से भी हीन या महत्वपूर्ण कहा जा सकता है कि उसकी प्रवृत्तियां उत्थानशील हैं या ह्रासशील ? इसका उत्तर आधुनिक कविता के युग-विभाजन से सम्बद्ध है। उत्तर छायावादी कविता और उसकी पूर्ववर्ती आधुनिक कविता को यथार्थवादी और आदर्शवादी वर्गों में भी रक्खा जा सकता है। इन विविध काव्य-धाराओं का मूल्यांकन साहित्यिक मानों के आधार पर ही होना चाहिए। यहाँ तक हम आधुनिक कविता के उच्चस्तरीय अध्ययन की उलझनों को सुलझाते आए हैं। संक्षेप में, आधुनिक कविता के अध्ययन-विषयक प्रश्न हैं:—आधुनिकता संबंधी या नवनवोन्मेषविषयक और काव्य-वस्तु, काव्य प्रक्रिया और कवि-व्यक्तित्व की स्पष्ट धारणा से ग्रथित। आधुनिक कविता का मूल्यांकन भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। हमें साहित्यिक मूल्य ही अभीष्ट है। साहित्येतर मान-दंड की व्यर्थता तो स्वयंसिद्ध है। इन प्रश्नों का विश्लेषण और यथोचित स्पष्टीकरण और समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया ही गया है।

निष्कर्ष

मैं समझता हूँ कि ये कठिनाइयां केवल अहिंदी भाषी क्षेत्र से ही संबंधित नहीं हैं। आधुनिक हिन्दी कविता के उत्तरभारतीय छात्र भी इन प्रश्नों से आक्रांत हैं। अन्तर केवल यह है कि अपने दैनंदिन जीवन में वे उसी भाषा का व्यवहार करते हैं और उसी क्षेत्र में रहते हैं। यह अंतर तो अमिट है। जो कठिनाई हिंदी भाषी तेलगू छात्र को दिल्ली या आगरा में रहने पर अनुभव होती है, वही कठिनाई हिंदी छात्र को तिरुपति या मैसूर में रहने पर अनुभव होगी। इस क्षति की पूर्ति मात्र अध्यवसाय से संभव है। हिंदीमें आज आधुनिक कविता संबंधी शोध, आलोचना, व्याख्या और संदर्भादि के इतने ग्रंथ सुलभ हैं कि उनके उपयोग से अहिंदी छात्रों की अनेक असुविधाएं निवारित हो जाती हैं।

इस कारण से भी मैंने आधुनिक हिंदी काव्य के अध्यापन की समस्याओं को मात्र प्रश्न माना है, समस्याएँ नहीं। इस कविता को पढ़ने में विशेष आयास करना पड़ता है और कठिनाइयाँ अनुभव होती हैं, इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मैंने इन प्रश्नों को सुलझाने के कुछ उपाय बताएँ हैं, पर वे सभी अध्यवसाय या परिश्रम की अपेक्षा रखते हैं। वस्तुतः ज्ञानार्जन ही तब तक संभव नहीं है, जब तक यथोचित परिश्रम और मनोयोग का संयोग नहीं होता। मैं यहाँ एक सुझाव देना चाहूँगा। आधुनिक हिंदी कविता का एक विशाल संदर्भ-कोष अविलम्ब प्रकाशित हो जाना चाहिए। इस ग्रंथ की सहायता से आधुनिक युग की हिंदी कविता के अध्ययन से संबंधित अनेक प्रकार की आरंभिक, माध्यमिक या उत्तरवर्ती कठिनाइयों का निवारण हो सकेगा।

७

साहित्य और सामयिक जीवन

वर्तमान वस्तु-स्थिति में साहित्य के अंतर्गत सामयिकता के तत्व का सम्मान ही नहीं बढ़ा है, बल्कि उसकी बाढ़ भी आई है। यह समाज की प्राणवंतता का ही परिणाम है। पर इसी संदर्भ में यह प्रश्न समुपस्थित है कि स्थायी और सामयिक साहित्य की क्या रूप, प्रकार और प्रवृत्ति की दृष्टि से नितांत भिन्न कला-कोटियां हैं या उनमें कहीं कोई अभेद भी है। जीवन और साहित्य के अंतरावलंबन या पारस्परिक संबंध के व्यापक प्रश्न का ही यह एक अंग है। इसे हम तात्कालिक और महान साहित्य के विभाजन की सीमा-रेखा समझने का प्रयास कह सकते हैं। मैं इस प्रश्न को भारतीय साहित्य की समसामयिक चेतना और उसकी रचना-प्रवृत्ति के आधार पर ही विश्लिष्ट करना चाहूँगा।

चीन का भारत पर आक्रमण और उसकी देशव्यापी प्रतिक्रिया हमारे राष्ट्रीय इतिहास की अश्रुतपूर्व घटना है। इस समय कर्त्तव्य की पुकार और आत्म-रक्षा की चेष्टा को प्राथमिकता मिलनी ही चाहिये। नए साहित्य में राष्ट्रवाद की प्रवृत्तियाँ स्वभावतः सक्रिय होंगी ही। यह राष्ट्रवाद कहीं व्यापक और कहीं संकीर्ण, कहीं युग-चेतना और कहीं भाव-बोध, कहीं गहरी अनुभूति और कहीं उथली प्रतिक्रिया या कहीं जीवन-निष्ठा और कहीं काम चलाऊ समझौता भी हो सकता है। प्रत्येक रचनाकार के व्यक्तित्व, परिवेश तथा जीवन-दृष्टि के अनुरूप ही उसकी वाणी अर्थ-व्यक्ति करेगी। यह नाना रूपात्मकता ही जीवन और साहित्य के संबंधों की विविधता को प्रत्यक्ष कर देगी तथा स्थायी और अस्थायी तत्वों की सापेक्षिक प्रधानता पर स्वतः एक टिप्पणी होगी।

जीवन और साहित्य का पारस्परिक संबंध किस प्रकार प्रत्यक्ष होता है? साहित्य का कच्चा माल है मानव-जीवन। उसी को सृष्टि के प्रत्यक्ष सौंदर्य किंवा मानसिक या

आध्यात्मिक मूल्यों तथा प्रवृत्तियों के आधार पर अभिव्यंजित करके कला-कृतियों का निर्माण किया जाता है। हमारा वर्तमान् युग यथार्थ-प्रवण है। अतएव हमारे साहित्य की विषय-वस्तु वास्तविक अधिक और काल्पनिक कम होगी। हम व्यक्ति या समाज अथवा लोक या प्रकृति को चित्रित कर रहे हैं, लोकोत्तर या अतिमानवीय वस्तु-व्यापारों को नहीं। जीवन के भीतर साहित्य का प्रवेश इस प्रक्रिया से कहीं अधिक सूक्ष्म है। साहित्य वस्तु-सत्य का यथावत् चित्रण कर सकता है और वह निश्चित उद्देश्य की सिद्धि लिए जीवन के चुने हुए रूपों को ही प्रस्तुत कर देता है। वह हमारे लिए उपादेय हो सकता है अथवा केवल आनंदप्रद। वह इन कार्यों के अतिरिक्त जीवन या मन की गतियों का तटस्थ आलेखन भी कर सकता है, जो मानव-विषयक रचना होने के कारण प्रसार पाने की योग्यता अवश्य रखेगा। आवश्यकता की परिपूर्ति या जीवन का निस्संग चित्रण साहित्य के अंतर्गत एकांगी मनोदृष्टियों का प्रतिफलन कहा जायेगा। साहित्य न केवल प्रचार है, न केवल निरपेक्ष आनंद। रचनाकार की दृष्टि में वह दोनों में से कोई एक चाहे हो, पर वह उसके विवेक या प्रज्ञा का प्रत्यक्षीकरण कराता है और आनन्द भी देता है। अतएव कोई रचना एकांततः उपयोगितावादी या कलावादी दृष्टिकोण से रची जाने पर अपने व्यापक महत्व और प्रभाव को नष्ट ही करेगी। प्रचारवादी या रूपवादी सिद्धांत साहित्य को सम्यक् परिप्रेक्ष्य में उपस्थित ही नहीं कर पाते। आनंद को साधन और प्रचार को उद्देश्य समझना भी साहित्य को तात्कालिक प्रयोजनीयता में सीमित कर लेना समझा जाएगा। वह देश-काल की सीमा में रचा अवश्य जाता है, पर है वह अखंड मानवता की थाती ही। साहित्य सभी सीमित मूल्यों को अतिक्रांत करता हुआ अंततः संस्कार-भूमि में प्रवेश करता है। प्रचारित वस्तु का प्रभाव या आनन्द की अनुभूति विशेष काल-खंड से संबंधित होती है, पर श्रेष्ठ साहित्य का अस्तित्व इतना क्षणस्थायी कदाचित् नहीं है। वह मन पर संस्कारों की सतहें चढ़ाता है और अप्रत्यक्ष रूप से तथा अनायास हमारे मानवत्व को सजग, स्पंदित और उद्‌बुद्ध कर देता है। सामाजिक जीवन में साहित्य की स्थिति और महत्ता इसी कारण है कि वह हमें सहृदय या संस्कारनिष्ठ मानव बनाता है, हमारी भाव-चेतना को उत्कर्षित करता है तथा हमारी संवेदन-क्षमता को सक्रिय रखता है। स्पष्टतः साहित्य चाहे तात्कालिक प्रयोजनों की सिद्धि भी कर सके पर वह प्रकृत्या अस्थायी वस्तु नहीं है। इसी कारण वह मानव-संस्कृति का प्रभावोत्पादक उपादान है, जिसे आस्था-निष्ठा, उद्देश्य-उपदेश अथवा मत या सिद्धांत की कुहेलिका में प्रायः दिग्भ्रमित किया जाता है। उसमें सभी मानव-मूल्य स्वतः चरितार्थ होते हैं, इसी कारण वह काम्य है। उसकी तन्मयकारिणी शक्ति को लक्ष्य करके ही जीवन का तत्काल उसे ठगता आया है। सामाजिक जीवन के कार्यक्रमों में उसका उपयोग वस्तुतः प्रासंगिक कार्य है, बाई-प्राडक्ट या अवांतर मूल्य मात्र है। तुलसी का मानस युग-चेतना का परिणाम अवश्य है, पर उसका सामाजिक महत्व और तात्कालिक प्रभाव ही नहीं है, वह उत्कृष्ट साहित्य भी है।

यहां साहित्य को संस्कृति का वाहक और निर्माता समझा गया है। अतः उसकी प्रवृत्ति को स्थायी कहा गया है, पर वही तात्कालिक प्रयोजनों में ही आबद्ध होकर अल्प-जीवी भी हो जाता है। इस विषमता को हमें कुछ विस्तार से समझ लेना चाहिए। सामयिक वस्तु-स्थिति का चित्रण मात्र, जीवनोद्देश्य का कोरा आख्यान या केवल तात्कालिक प्रयोजन-निष्ठता साहित्य को सामयिक परिवेश में आबद्ध कर देती है, पर वस्तुचित्रण की मर्मस्पर्शता, जीवनोद्देश्य की रसात्मक अभिव्यक्ति या तात्कालिक प्रयोजन की गहरी संवेदना उसे इस कारा से मुक्ति-लाभ भी कराती है। आशय यह है कि अनुभूति की निश्छलता तथा गहनता, चिंतन की अनेकांगिता तथा प्रच्छन्नता और कल्पना की सजीवता और प्रभविष्णुता जब आकर्षक रचना-शिल्प के द्वारा साकार होती हैं और इन सभी में साहित्यिक संतुलन स्थिर रहता है, तभी कोई कृति स्थायीत्व का विशेषत्व अर्जित करती है, अन्यथा कोई रचना दीर्घजीवी नहीं हो पाती। उदाहरणार्थ, वर्तमान संकट की स्थिति को अनगिन रचनाएँ प्रत्यक्ष कर रही हैं और कई में उत्तेजना भी विद्यमान है, पर जब तक इसी संघर्षावस्था को मूल मानव-प्रकृति से संयुक्त नहीं किया जाता तब तक युग-बोध को दीर्घ जीवन सुलभ नहीं हो पाता। अनुभूति जितनी गहरी और युग-बोध जितना उदात्त होगा, उतना ही बड़ा हुआ साहित्य का मूल्य होगा। साहित्य में युग-जीवन का प्रतिनिधित्व ही नहीं होता, उसमें अखंड मानवता की गूंजें भी होती हैं। 'यह करो, वह करो' जैसे कथन कर्त्तव्य जताते हैं, रस-बोध नहीं कराते।

यहाँ रूपवादी तथा उपयोगितावादी सिद्धान्तों की सीमाओं का परीक्षण करते हुए हमने साहित्य के मूल चारुत्व को समझने का प्रयास किया है। जीवन और साहित्य एक-दूसरे के अस्तित्व लिए अपरिहार्य हैं। जीवन के अभाव में साहित्य का स्वरूप ही विनष्ट हो जाता है और इसी भाँति साहित्य के अभाव में जीवन की संस्कारिता भी लुप्त हो जाती है। साहित्य मानव की प्राणवत्ता को संपूर्ण विस्तार में और सर्वथा अप्रत्यक्ष रूप से तथा अनजाने ही सजग और सक्रिय रखता है। आदेश-निर्देश तो प्रत्यक्ष हैं ही, पर क्या वे साहित्य हैं ? वे साहित्य की दुर्बलता हैं, शक्ति नहीं। साहित्य का सौंदर्य वस्तु-व्यापारों की व्यंजना करने में है, उनकी परिगणना करने में नहीं। रस को इसी कारण वाच्य न कहकर व्यंग्य माना गया है। प्रेम या करुणा की जाती है, शब्दों में इन भावों को जताया नहीं जाता, जैसे मैं दया या प्रेम कर रहा हूं, क्योंकि तब यह प्रकथन मात्र है, साहित्य नहीं। यह सशब्द-वाच्यत्व दोष हो जाता है। प्रचार या उपयोगिता के मंत्र छद्म रूप से ही कारगर हो सकते हैं और तभी वे साहित्य के अंतर्गत स्थान पाते हैं। सौंदर्य या कला नंगा-पन नहीं है, आवश्यक छिपाव और अनिवार्य उन्मुक्तता में उसका विन्यास होता है।

चीन के दुर्दान्त आक्रमण ने हमारे देश को झकझोर दिया है। हमारी तन्द्रा टूट गई है और हम आपसी भेद-भावों को इतस्ततः करते हुए उठ खड़े हुए हैं। राष्ट्र-प्रेम की भावना और आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति एक साथ सक्रिय हो उठी है। त्याग और बलिदान के

साथ-साथ उत्साह और आक्रोश साहित्य के भीतर एक स्वर-ताल में झंकृत हो रहे हैं। यह आवश्यक है कि हमारे साहित्यकारों को राष्ट्रीय संकट की मार्मिक और वास्तविक अनुभूति हो पाये। वह प्रत्यक्ष ही हो रही है। जिस घटना ने राष्ट्रीय एकता को प्रत्यक्ष किया है, उसने साहित्यकारों को भी इसी रस में पाग दिया है। यह आत्म-प्रशंसा ही है। पर हमें गंभीरतापूर्वक इस संबंध में सोच-विचार भी करना चाहिए।

इस समय देश के सभी राजनीतिक दल प्रतिरक्षात्मक प्रयत्नों में संलग्न दिखाई पड़ते हैं। वे चाहे प्रजातंत्र की धारणा और मानववादी विचारणा रखते हों या उनकी समाजवादी निष्ठा और वस्तुवादी मान्यताएँ हों अथवा चाहे वे संकीर्ण मतवाद या उग्र राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति से ग्रस्त हों, सभी पूर्ण-रूपेण तत्पर हैं। इसका कारण है हमारी सांस्कृतिक एकता। मैं यहाँ हिंदू, इस्लाम या ईसाई संस्कृति का संदर्भ प्रस्तुत नहीं कर रहा हूं। मैं भारत की उस सारग्राहिणी, उदार, सहिष्णु तथा समन्वयशील संस्कृति का उल्लेख कर रहा हूं, जो निरंतर विकासशील रही है और जिसने आधुनिक काल में भी जीवन की गतिमयता का सतत समुत्कर्ष किया है। वह न जड़ राष्ट्रवाद है, न कट्टर समाजवाद और न संपन्न पूंजीवाद। वह प्रजातंत्रात्मक समाजवाद है, जिसे भारत की सांस्कृतिक चेतना का ही विकास समझा जाएगा। इसी कारण न हम किसी शक्ति-संगठन के आश्रित हैं और न पुरातनता का निर्मोक ही सह पाते हैं। हमारी पर-राष्ट्रनीति ही इसका प्रमाण नहीं है, बल्कि राज्य-सत्ता के लक्ष्योद्देश्य भी इसे उदाहृत करते हैं। यही वह मूल वस्तु है, जिसने राष्ट्र को संगठित रखा है और साहित्यकारों के मन में आक्रांता से प्रतिरक्षित रहने की प्रबल अनुभूति उद्रिक्त की है।

राजनीतिक दलों की भांति साहित्य के भीतर भी विचार-धाराओं के खेमे हैं ही। व्यक्तिवादी और समाजवादी रचना-प्रवृत्तियाँ निस्संदेह प्रमुख हैं, पर वे एकांगी भी हैं। संभवतः वे भारतीय जीवन और उसकी विकासोन्मुख संस्कृति का सम्यक् रूपेण प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। उग्र राष्ट्रवाद की भावना सक्रिय हुई है, पर वह सामयिक साहित्य में अध्यात्मवादी प्रवृत्ति की भांति प्रायः अप्रधान हो रही है। राष्ट्रीय चेतना का सम्यक्-रूपेण प्रतिनिधित्व हमारा ऐसा साहित्य करता आया है, जो एकान्तिक मतवाद से ग्रस्त नहीं हो पाया। समता और स्वतंत्रता दोनों हो जीवन-मूल्य हैं और हम जीवन को ही मुख्य मानते आये हैं। व्यक्ति और समाज दोनों ही इसकी महत्वपूर्ण इकाइयाँ हैं। आशय स्पष्ट है कि भारतीय जीवन और संस्कृति, समाज-रचना और राज्य-पद्धति, आत्म-विकास और आर्थिक क्रांति हमें एक साथ ग्राह्य हैं। हम संपूर्ण जीवन को देखते हैं, उसका एकांगी दर्शन हमें अभीष्ट नहीं है। इस संकट की परिस्थिति ने सभी साहित्यिक मतवादों के रचयिताओं को एक ही धरातल पर उपस्थित कर दिया है। यह शुभ लक्षण अवश्य है, जो भारतीय जीवन की अनेकरूपात्मकता की आंतरिक एकता को चरितार्थ करता है, पर इस संबंध में मुख्यतः दो मुद्दों पर यहाँ विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। पहली वस्तु तो

यह है कि मतवादी साहित्य को किस सीमा तक राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का सहायक समझा जाए ? और दूसरी जिज्ञासा यह है कि इनमें सचाई या असलियत की किस कोटि का आभास पाया जाए ?

व्यापक और उदार मानववादी अथवा प्रजातांत्रिक समाजवादी रचना-प्रवृत्तियां ही वह मूल भूमिका है, जिसके साथ विविध प्रकार की साहित्यिक विचारधाराएँ संकटकालीन समता या एकता का भाव प्रत्यक्ष कर रही हैं। उग्र राष्ट्रवाद अथवा आत्मवादी जीवन-विकास की धारणाओं के स्वर प्रखर या प्रशांत हो सकते हैं, पर उनमें विजातीय तत्व या विषमता का अंतर्भाव है ही नहीं। कलावादी या परंपरावादी रचना-प्रवृत्तियां मुख्यतः साहित्यिक प्रतिमान हैं, जिनके राजनीतिक आधार की कोई परिकल्पना ही नहीं हो सकती। मुख्यतः व्यक्तिवादी और समाजवादी विचारणाओं के राजनीतिक लक्ष्योद्देश्य अस्पष्ट नहीं हैं। दोनों का दो पृथक् शक्ति-संगठनों की राजनीतिक या सामाजिक मान्यताओं से समीपी संबंध है। दोनों ही यथार्थवादी विचारधाराएँ हैं, पर एक व्यक्तिनिष्ठ है और दूसरी समूहपरक। एक मानवीय स्वतंत्रता और व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा को प्राथमिक समझती है तथा दूसरी आर्थिक समता और सामाजिक प्रगति को प्रमुख।

हमारे यहां व्यक्तिवाद की दो सीमाएँ प्रत्यक्ष हुई हैं। वह बहिर्मुख होकर मानववाद की उच्चतर भावना बन जाता है और अंतर्मुख होकर मन की अगाध गहराइयों में प्रवेश करता है। समाजवाद की भी इसी प्रकार दो सीमाएँ प्रत्यक्ष हैं। एक आर्थिक क्रांति की मतवादी संघर्ष प्रवृत्ति है और दूसरी जनवाद की व्यापक भावना या राष्ट्रवादी समाजवाद की विकास-प्रवृत्ति। ये दोनों ही वैज्ञानिक भूमिका पर अग्रसर हैं, यथा मनोविज्ञान और समाजशास्त्र और दोनों ही राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित हैं। भारतीय जीवन में इनका कियत्काल तक एकांगी प्रसार भी हुआ है, क्योंकि दोनों तत्वों को एकीकृत करने के लिए हम प्रयत्नशील रहे हैं और हमने तटस्थ राष्ट्र की भूमिका निवाही है।

इस संकट की स्थिति में इन दोनों धाराओं ने थोड़ा-बहुत विकास-विस्तार कर लिया है। व्यक्तिवाद ने मानववाद की चेतना मुखरित की है और मानसिक अवस्थाओं का प्रयोजननिष्ठ विश्लेषण भी किया है। अंतर्वृत्तियों की यदि विशेष संदर्भ में छानबीन की जाए और हम उद्देश्यनिष्ठता को स्थिर रख पाएँ तो यह कार्य दायित्वपूर्ण होगा। अन्यथा इसके द्वारा त्याग और बलिदान का छिछलापन और आवेश आदि की अवास्तविकता भी दिखाई जा सकती है। यह ऐसा दुधारा है, जिसका उपयोग करने में अवधानता रखनी होगी, अन्यथा यह प्रतिकूल प्रभाव भी पैदा कर सकता है। इस परिस्थिति में मानववादी व्यक्तिवाद का सहयोग प्राप्त हो जाना अनिवार्य वस्तु है, क्योंकि यह सत्य, न्याय और आत्मरक्षा की लड़ाई ही नहीं है, वरन् इसके द्वारा राजनीतिक मतभेद का भी पोषण होता है।

प्रगतिवादी या समाजवादी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ इस समय संकटापन्न अवस्था में आ गई हैं। समाजवादी चीन ने हम पर आक्रमण किया है, अतएव मार्क्सवादी रचना-प्रवृत्तियों में विशेष संयम और कहीं-कहीं आत्म-निरीक्षण का प्रयास भी दिखाई पड़ता है। रूस ने चीन का साथ नहीं दिया है और भारत से अच्छे संबंध बनाए रक्खे हैं, अतएव मतवाद के प्रचार और समाजवाद के विस्तार की संभावनाएँ क्षीण हो गई हैं। हमारे समाजवादी रचनाकारों ने इस स्थिति से लाभ उठाया है। अधिकांशतः वे राष्ट्रवादी समाजवाद की बुनियाद पर अपना साहित्य रच रहे हैं। उन्होंने चीन के प्रति अपना क्षोभ और आक्रोश भी प्रकट किया है। यदि यह वास्तविक अनुभूति है तो इसका अभिनन्दन है। और यदि यह आत्म-रक्षा का प्रयत्न है तो इसे कामचलाऊ समझौता समझा जाना चाहिए। वस्तुतः प्रगतिवादी विचारधारा वस्तुवादी है और आर्थिक समता स्थापित करने के लिए संघर्ष को अनिवार्य समझती है। वह साध्य को महत्व देती है, साधन को नहीं। अतएव प्रगतिवादी साहित्य में राष्ट्र-भावना का उन्मेष सामयिक आवश्यकता मात्र हो सकता है। वह मूलभूत सिद्धांत और उसकी कार्य-प्रवृत्तियों को स्थायी रूप से कदाचित् राष्ट्रवाद में पर्यवसित नहीं कर पाता। मैं इस तात्कालिक आयोजन को भी महत्वपूर्ण समझता हूं। इन लेखकों की अनुभूति जितनी निश्छल और गहन होगी, उतनी ही उनकी वाणी सारवान्, प्रभावपूर्ण और स्थायी होगी। प्रचारमात्र से कोई कृति चिरकालिक महत्ता पा लेने में सदैव असमर्थ रही है। अतएव साहित्यिक दृष्टि से यहाँ कोई खतरा नहीं है।

अब हम प्रस्तुत प्रश्नों का सरलतापूर्वक उत्तर दे सकते हैं। संप्रति सभी साहित्यिक धाराएँ राष्ट्रोद्योग में सहायक हैं। व्यक्तिवादी और समाजवादी सरणियों की सीमाएँ हमने देख ली हैं और वे किस रूप में उपादेय हैं, यह भी समझा गया है। निश्चय ही जिस भाँति उग्र राष्ट्रीयता एकांगी है, उसी भांति ये प्रवृत्तियाँ भी। मनोविश्लेषण के खतरे प्रत्यक्ष हैं। यदि कुंठाग्रस्त मन का उन्नयन दिखाया जा सके, तो वह उपादेय हो सकता है, पर उसका अधःपतन चित्रित हुआ तो वह विनाशकारी भी बन जाता है। समाजवादी कामचलाऊ या तात्कालिक समझौता अवश्य किए हुए हैं, क्योंकि यह अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न है। अतएव इस समय वे भी प्रत्यक्षतः सहायक ही हो सकते हैं, पर यह संबंध चिरस्थायी या अटूट है, यह नहीं कहा जा सकता। दूसरा प्रश्न असलियत से संबंधित है। इस समय सीमा-क्षेत्र की कल्पनाएँ ही नहीं, भारतीय मन का क्षोभ और उत्साह भी मुखरित हो रहा है। अतएव वास्तविकता तो उसमें एक सीमा तक अवश्य है, पर अनुभूति का स्वरूप कृत्रिम है या प्रकृत, इसका निर्णय रचनाकार की मनःस्थिति से ही अंततः संबंधित है। पर यह निश्चय है कि सामयिक साहित्य का बहुत थोड़ा अंश चिरस्थायी हो पाता है, जिस वाणी में अनुभूति और धारणा की शक्ति व्यक्त होती है। वह अस्थायी वस्तु नहीं होती। काल-क्रम ही यह निर्णय कर देता है कि किस रचना का महत्व है और किसका नहीं। पर प्रचार से निरपेक्ष होकर भी प्रायः

असली अनुभूति का व्यक्तिकरण संक्रामक और लोक-प्रिय होता है तथा नकली रचनाएं प्रचारित होने पर ही जानी-पहचानी जाती हैं।

अस्तु, सामयिक साहित्य का वही अंश स्थायी होता है, जिसमें शाश्वत मानव-मूल्य चरितार्थ होते हैं और उतना ही अंश प्रभावपूर्ण हो पाता है, जिसमें रचनाकार का व्यक्तित्व अनुभूति की निर्व्याज अभिव्यक्ति कर पाता है। अतएव समस्त सामयिक रचनाएँ राष्ट्रीय सजगता और उसकी आंतरिक एकता को तो प्रकट अवश्य कर रही हैं, पर सभी प्रभाव-पूर्ण, स्थायी अथवा वास्तविक नहीं हैं। अधिकांश रचनाएं दैनिक पत्रों की भांति अल्प-जीवी होती हैं।

मैं समझता हूं कि मैंने यहां जीवन और साहित्य का संबंध ही स्पष्ट नहीं किया, वरन् स्थायी और अस्थायी, असली और नकली तथा प्रभविष्णु और प्रभावशून्य साहित्य के अंतर का निरूपण भी प्रसंगतः कर दिया है। सामयिक जीवन को साहित्य ही चिर-कालिक रूपाकार प्रदान करता है।

८

हिन्दी साहित्य पर स्वतंत्रता का प्रभाव

आज हमें हिन्दी साहित्य पर नवार्जित भारतीय स्वतंत्रता के प्रभाव का आकलन करना है। स्वतंत्रता की उपलब्धि के पूर्व ही साहित्य की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा और स्वच्छंदतावादी धारा का प्रतिनिधि स्वरूप समाप्त हो चुका था और नवीन यथार्थवादी धारा का समारम्भ हो चुका था। स्पष्टतः साहित्य में आदर्श-निष्ठा के स्थान पर यथार्थ-चेतना का विकास हो रहा था। भारतीय स्वतंत्रता की उपलब्धि इसी समय हुई।

मूलतः स्वतन्त्रता एक प्रत्यय है, उसकी धारणा का मानसिक स्वरूप होता है। वह अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग प्रकार की भावनाओं को जाग्रत करती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता व्यक्ति विशेष की मुक्ति है। इसी तरह वर्गीय, जातीय या धार्मिक स्वतंत्रता भिन्न-भिन्न आशयों को स्पष्ट करती है। हमारी स्वतंत्रता की धारणा अपने देश के पराधीनता के पाश से मुक्त होने की रही है। स्पष्टतः उसका विचार-जगत् में राजनीतिक स्वरूप है। भावना के क्षेत्र में वह देश-प्रेम की भावना से सम्बद्ध होकर साहित्य की प्रेरणा बनी थी। स्वतंत्रता की धारणा का मुख्यतः देश की राजनीतिक चेतना के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। गांधीजी ने उसकी सीमा को पहचाना था और उन्होंने इसे सामाजिक क्रान्ति का आशय दिया था। उनकी आदर्श मानवतावादी विचारणा नैतिक आधार को लिए हुए थी, जिसकी सत्य और अहिंसा, त्याग और तितिक्षा तथा संयम और बलिदान की प्रवृत्तियाँ थीं। हमारी नई साहित्यधारा यथा[illegible] को लिए हुए है, अतएव उसमें आदर्शवादी प्रवृत्तियों का स्वभावतः [illegible]।

नवीन साहित्य-धारा के समानान्तर पिछले खेमे के कृतिकार भी साहित्य-सर्जना करते रहे हैं, पर वह धारा महत्वपूर्ण होते हुए भी आनुषंगिक है, प्रतिनिधि नहीं। उसे

सहायक-सरिता की उपमा ही दी जा सकती है। इस धारा में अनेक महत्वपूर्ण रचनाएँ लिखी गईं, जिनमें स्वतंत्रता के मूल्य, उसके लक्ष्योद्देश्य और सामाजिक कर्तव्य आदि का निर्देश हुआ है। मैथिलीशरण, दिनकर और सुमित्रानन्दन पंत की रचनाएँ इस कथन को प्रमाणित करती हैं।

भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति एक लम्बे संघर्ष की परिसमाप्ति थी। इसलिए आशा और उल्लास के स्वर अधिक मुखर होते तो कोई अस्वाभाविक बात न होती। हिन्दी साहित्य में ऐसे उल्लास का मनोरम चित्रण प्रायः नहीं हुआ। सफलता का प्रसन्न चित्रण अवसर विशेष पर कतिपय लेखकों ने किया अवश्य, पर वह मात्र सामयिक महत्व का कार्य था। ऐसा क्यों है? क्या भारतवासी स्वातंत्र्य प्रेम से आन्दोलित नहीं हुए? वस्तुस्थिति यह नहीं है। मुख्य कारण यह है कि हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ वास्तविकता का आग्रह लिए हुए थीं। स्वतंत्रता एक राजनीतिक उपलब्धि दिखाई पड़ी थी। अभी सामाजिक, आर्थिक और इतर स्वतंत्रताएँ हमें उपलब्ध नहीं हो पाई थीं। अब योजनाएँ बनाई गईं और अनेक विकास कार्य आरंभ हुए। आशय यह है कि स्वतंत्रता की उपलब्धि हमारे लिए एक चुनौती थी, जो अपने साथ नाना प्रकार की समस्याएँ भी लेती आई थीं। यथार्थनिष्ठ होने के कारण हमारे रचनाकारों को ये समस्याएँ अभिभूत करने लगीं और उनके समाधान का मार्ग भी तिमिराच्छन्न जान पड़ने लगा। स्वतंत्रता के साथ-साथ बटवारे की समस्या आई, गांधीजी की हत्या घटित हुई, सीमावर्ती क्षेत्रों में निरंतर संघर्ष छिड़ता गया और नये प्रजातन्त्र के सहस्त्रबाहु उत्तरदायित्व अनुभव किये जाने लगे। स्वतंत्रता का प्रेम एक भावना है, जो फल प्राप्ति से संतुष्ट हो सकती है और विकट परिस्थितियों और जटिल समस्याओं से आक्रान्त। हमारी साहित्य-चेतना फल-प्राप्ति की सुखानुभूति को कुछ रूपाकार दे पाने में समर्थ हो पाती कि उससे पहले ही वह समस्याओं से जूझने और दायित्वों के सम्भालने में प्रवृत्त हो गई। फल यह हुआ कि हमारे साहित्य में नवीन समस्याएँ और अभिनव परिस्थितियाँ अभिव्यक्ति का मार्ग खोजने लगीं।

इन्हीं परिस्थितियों में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का उन्मेष और समाजवादी मंतव्यों का आविर्भाव हुआ। व्यक्तिवादी साहित्य प्रायः यथार्थवादी वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकटीकरण करने लगा और उसे बुद्धि-रस की संज्ञा दी गई। इस धारा में विदेशों के व्यक्तिवादी चिन्तन को स्वीकार किया गया तथा व्यक्तिगत जीवन की विषम परिस्थितियों का चित्रण हुआ। यह धारा बहुत कुछ रुग्ण मनःस्थिति का उद्‌गार थी। इसमें नवयुग का आधुनिकता का विचार-बोध अवश्य था, पर प्रत्यक्ष जीवन की भूमिका पर वह आहत चेतना का साहित्य था, जिसमें कुण्ठा और पीड़ा, निराशा और पस्ती तथा निरीहता और पराजय के स्वर अत्यंत मुखर थे। इसके विपरीत समाजवादी साहित्य की धारा कुछ अधिक स्वस्थ मनःस्थिति की उपज थी, पर उसमें भी प्रचलित

जीवन-मानों को बदलने की आकांक्षा ही प्रधान थी। उसने कभी व्यंग्य का सहारा लिया, तो कभी प्रहार का मार्ग अपनाया। उसे वस्तुस्थिति को बदल डालने की ही जल्दी थी। भारतीय जीवन को नई दिशा में क्रमशः मोड़ते चलने का उसमें धैर्य नहीं था। उसमें नये और क्रान्तिकारी आकर्षण अवश्य थे, पर वह विजातीय वातावरण पर थोपी जा रही थी। हमारा देश क्रमशः प्रजातांत्रिक समाजवाद के लक्ष्योद्देश्यों को अपनाता जा रहा था। अतएव व्यक्ति-सत्य और समाज-सत्य की उभय धाराएँ यहाँ की जीवन-धारा से कटकर एकांगी रूप में अधिक समय तक प्रवाहित नहीं हो सकती थीं। भारतीय जीवन का स्वाभाविक विकास भी यही था। नई समाज-व्यवस्था ने व्यक्ति की गरिमा और समाज की महत्ता दोनों को स्वीकृत ही नहीं किया, संस्थापित भी किया। जो व्यक्तिवादी साहित्य-धारा समाजवाद की रामनामी ओढ़कर हमारे यहां रचना कार्य में प्रवृत्त हुई थी, वह वस्तुतः हमारे सामाजिक जीवन की प्रतिकृति मात्र थी। पर इसी धारा के दीर्घजीवी होने के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रय संबंध के आधार पर और दोनों को समान रूप से महत्वपूर्ण मानकर जिस प्रकार हमारा राज्य-तंत्र सक्रिय है, उसी प्रकार हमारा साहित्य भी इसी दिशा में विकसित हो रहा है। इस दिशा की शक्ति यह है कि इसमें सैद्धांतिक कट्टरता तथा बाह्य प्रेरणाओं की विरलता है। इसे वास्तविक साहित्य के प्रकृत क्षेत्र की समकक्षता दी जा सकती है। इसकी । ीमा यह है कि ऐसा साहित्य राजनीतिक चेतना से अधिक प्रभावित हो सकता है। राजनीतिक पक्ष जीवन का एक अंग मात्र है, उसे जीवन की समग्रता का पर्याय नहीं समझना चाहिए। यथार्थवाद की सीमा में युग-चेतना से अनुप्राणित होकर साहित्य की नई दिशा हो भी ‸ ी सकती है, जहाँ जीवनानुभूति का सौंदर्य वैज्ञानिक घटाटोप और सैद्धांतिक आडम्बर ने मुक्त होकर अपने स्वाभाविक रूप में उपस्थित हो।

यहां तक हमने नये साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों पर स्वतंत्रता के प्रभाव का मूल्यांकन किया है, अब हमें साहित्य पर पड़े हुए स्वतंत्रता के व्यापक प्रभाव की छान-बीन भी करनी चाहिए। स्वतंत्रता की प्राप्ति और उसके बाद की उन सभी घटनाओं का, जिनकी राष्ट्रीय जीवन पर घनिष्ठ छाप है, हमारे साहित्य पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ा। साहित्य-सर्जन अब मात्र सेवाकार्य ही नहीं रहा, उसका व्यावसायिक रूप भी प्रत्यक्ष हो उठा। इसी कारण हिन्दी में कथा साहित्य और आलोचना की पुस्तकें ही अधिक प्रकाशित होने लगीं। साहित्य आजीविका का साधन भी बना। शिक्षा के विकास और नये दायित्वों के अनुभव के साथ-साथ विपुल राशि में और विविध प्रकार का साहित्य हिन्दी में रचा जाने लगा। प्रकाशन व्यवसाय की आशातीत उन्नति हुई। पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ आ गई। हिन्दी और उसके साहित्य से सम्बन्धित अनेक क्षेत्र आजीविका के उपार्जन के लिये मुक्त-कपाट हुए। साहित्य ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान की अनेक कृतियाँ हिन्दी में लिखी जाने लगीं। हिन्दी संस्थाओं के सम्मुख भी अनेक कार्य-क्षेत्र प्रकट हुए। हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पारिभाषिक शब्द-संग्रह और विश्वकोष के निर्माण का कार्य इसी नवीन क्षेत्र

का सूचक है। साहित्य अकादमी की स्थापना के माध्यम से सभी भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य को पुरस्कृत किया जाने लगा और उत्कृष्ट कृतियों के भाषान्तर का कार्य भी हाथ में लिया गया। हिन्दी निर्देशनालय की स्थापना हुई और उसके माध्यम से न केवल अनुवाद-कार्य को गति प्राप्त हुई, वरन् हिन्दी को राजभाषा के रूप में सक्षम बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य भी किये गये। हिन्दी के प्रचार-प्रसार के निमित्त अनेक संस्थाएँ सक्रिय हुईं, जिनके कारण हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के प्रति न केवल अनुराग बढ़ा, वरन् हिन्दी को ज्ञानार्जन का उपयुक्त विषय समझ कर अगणित देश-वासियों ने प्रशंसनीय योग्यता भी अर्जित की। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई और शोध के क्षेत्र में चिरस्मरणीय कार्य किए गए। हमारे ज्ञान का विकास हुआ। तत्कालीन प्रतिरोधों के होते हुए भी स्वतंत्र भारत में हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य ने जो प्रगति की है, वह एक प्रबुद्ध देश में ही संभव थी। इस विकास की १९४७ई. के पूर्व कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। आज प्रत्येक विषय और अधिकांश प्रमुख भाषाओं की कृतियाँ हिन्दी में समुपलब्ध हैं। भारत के प्रत्येक प्रदेश में इस समय सामान्य हिन्दी के ज्ञाता से लेकर विशेषज्ञ तक प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। आशय स्पष्ट है कि स्वतंत्रता का प्रभाव रचनात्मक साहित्य में अप्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध होता है, पर अन्यान्य क्षेत्रों में वह प्रत्यक्षतः प्रचुर परिमाण में दिखाई पड़ता है।

सार्वजनिक जीवन की चेतना का सीधा संबंध रचनात्मक साहित्य से होता है। अतएव उसमें हमारे जटिल, परिस्थिति-ग्रस्त और समस्या पूर्ण जीवन की झांकी ही मिलती है। पर ज्ञान-प्रधान या व्यावसायिक दृष्टिकोण का साहित्य और सामुदायिक तथा संस्थागत कार्य विशेषतः नीति, उपयोगिता और आवश्यकता से अनुप्रेरित होते हैं। फलतः ऐसे कार्यों की बहुलता स्पष्टतः हमारे यहाँ भी है। इन्हीं रचनात्मक और अरचनात्मक दोनों वर्गों में हम स्वतंत्रता का क्रमशः अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष प्रभाव पाते हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात् भाषा और लिपि के सुधार-विषयक और साहित्य-शिल्प संबंधी नवीन कार्य किये गये। हिंदी भाषा को सार्वजनिक उपयोग की वस्तु बनाने के लिये उसे सरल रूप देने का प्रयत्न किया गया। रेडियो, समाचार पत्र, कथा-साहित्य और चलचित्र आदि इस दिशा में विशेष रूप से सक्रिय हुए। उच्चस्तरीय ज्ञान के लिये और अंतर्-प्रांतीय उपयोग की दृष्टि से संस्कृतनिष्ठ भाषा-शैली ही उपयोगी समझी गई। जीवित भाषा के ये दोनों रूप निश्चय ही रहेंगे, क्योंकि लेखक या वक्ता का उद्देश्य समुचित अर्थ-व्यक्त करना होता है, सरल या कठिन भाषा लिखना नहीं। पर सार्वजनिक उपयोग की दृष्टि से सरल और साधु भाषा ही श्लाघ्य होती है। लिपि संबंधी अनेक सुधार किए गए, जिनका उद्देश्य नागरी लिपि में एकरूपता लाना तथा मुद्रण या टंकण की यांत्रिक कठिनाइयाँ कम करना था।

साहित्य-शिल्प सम्बन्धी जो नये आविष्कार और प्रयोग हुए, वे हमारी उन्मुक्त-जीवन-चेतना के अनुरूप ही थे। स्वतंत्रता के पश्चात् की हिन्दी कविता में हमें यथार्थ-जगत् की नई प्रतीक-व्यंजना और नया अप्रस्तुत-विधान दिखाई पड़ता है। लघु मानव को लक्ष्य में रखकर किंचित् कविता और अकविता लिखी गई। छंद और कविता की अंतर्वर्ती लय को भी छोड़ देने का उपक्रम हुआ। कविता लघु हो या दीर्घ, वह नई कविता मात्र रह गई। यह नयापन स्वतंत्र जीवन की प्रयोगात्मक परिणति है। इसी स्वर-ताल पर नई कहानी और नई आलोचना भी लिखी जाने लगी। शिल्प की दृष्टि से हमारे रचनाकारों ने परम्पराओं से एकान्ततः मुक्ति प्राप्त कर ली। उन्हें अपनी नई रचना के लिए अभिनव शिल्प ही ग्राह्य हुआ। इस दिशा में, चाहे वह एकांकी हो या उपन्यास, पत्र-रचना हो या डायरी-लेखन, रेखा-चित्र हो या निबंध, कहानी हो या उपन्यास, आलोचना हो या जीवन-दर्शन, सर्वत्र नया भाव-बोध नवीन परिधान धारण करने लगा। इस नवीन शिल्प-विधान के मूल में एक ओर अपने समूचे पराधीन जीवन की उपलब्धियों की अस्वीकृति प्रकट होती है तो दूसरी ओर हमारे स्वतंत्र किन्तु संकुल जीवन की संपृक्ति भी विविध साहित्य-प्रकारों में नये-नये रूपाकार प्राप्त करती है। इस प्रवृत्ति के विकास का एक कारण यह भी है कि भारतीय साहित्य की मूल-प्रवृत्ति छायावाद काल तक प्रायः आदर्शोन्मुख रही है और हमारी नई साहित्य धारा मूलतः यथार्थवादी है। इसीलिए परम्परा-निषेध के साथ-साथ युग-चेतना का समवर्ती लेखनकार्य क्रियाशील हो उठा है। यह कार्य अपने आप में साहित्यिक दृष्टि से चाहे शक्ति का परिचायक न जान पड़े, पर वह पराधीनता के पाश से मुक्ति पाने का प्रयास अवश्य कहा जायेगा।

जिस प्रकार हमारे देश का नवनिर्माण किया जा रहा है और जीवन-व्यवस्था बदली जा रही है, उसी प्रकार हमारे साहित्य में भी नया जीवन-बोध अपनी नवीन विषय-वस्तु का अपरंपरित अभिव्यक्ति-सौंदर्य निर्मित कर डालने के लिए कृतसंकल्प है। इसी समय हमारे सुधी रचनाकारों ने इस एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग करके व्यापकजीवन दृष्टि का परिचय भी दिया है। उदाहरण के रूप में जैनेन्द्रकुमार के 'समय और हम' अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' या रेणु की 'परती परिकथा' को उपस्थित किया जा सकता है। इसी भांति आलोचना के क्षेत्र में भी संतुलित और विकासोन्मुख कार्य हुआ है। उदाहरण के रूप में हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा. नगेन्द्र और नंददुलारे वाजपेयी के विचारों को देखा जा सकता है। नवीनता की सर्वांशतः प्रतिक्रिया भी हमें दिखाई पड़ती है और उसके उदाहरण के रूप में लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को उपस्थित किया जा सकता है।

संक्षेप में, आज एकान्तिक विकास की जो प्रवृत्तियाँ-परंपरा का व्यामोह और उसका सज्ञान निषेध हिन्दी में समुपलब्ध हैं, पर भारतीय संस्कृति निरंतर मध्यम मार्ग का ही अनुसरण करती हुई संतुलित और समन्वित दृष्टिकोण को अपनाती रही है। गौतमबुद्ध से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक प्रायः सभी इसे उदाहृत-करते हैं। समाज म

ह्रास और विकास की प्रवृत्तियाँ साथ-साथ सक्रिय होती हैं, पर अंततः विकास की प्रवृत्ति ही चिरजीवी हो पाती है। स्वतंत्रता के प्रभाव में जो नई ह्रास-शील प्रवृत्तियाँ उभरीं और जो अतिवादी दृष्टिकोण दिखाई पड़ा, वह अंततः अल्पजीवी वस्तु है। स्वतंत्रता का जो स्वस्थ, संतुलित और जोपनात्यापूर्ण प्रभाव पड़ा, वही चिरस्थायी ज्ञात होता है। यहाँ हम स्वतंत्रता प्राप्ति की घटना के अत्यंत सन्निकट हैं, अतएव हमारा मूल्यांकन पर्याप्त तटस्थता का परिचायक नहीं भी हो सकता है। पर इसे उसी दिशा में किया गया एक प्रयास मात्र समझना चाहिए। अवश्य ही हम एक ओर साहित्य का व्यवसाय करने लगे हैं, साधना नहीं तथा दूसरी ओर मानव-मन को परेशान करना चाहते हैं, भाव-विभोर नहीं। साहित्य-सर्जना की प्रतिनिधि प्रवृत्ति संप्रति यही है।

६

संकट-कालीन साहित्य

संकटापन्न-समाज

राष्ट्रीय, जातीय किंवा सामाजिक परिस्थितियाँ जब कभी खतरों से भरी होती हैं और अस्तित्व पर आघात होने लगते हैं, तब-तब समूचे जन-जीवन में भावात्मक उद्वेलन प्रमुख हो उठता है और लक्ष्य का एकत्व प्रत्यक्षतः मूर्त दिखाई पड़ता है। यह अवस्था प्रायः राष्ट्रीय प्रतिरक्षा, जातीय संकट, सामाजिक क्रांति, सांस्कृतिक जागरण, स्वातंत्र्य-चेष्टा तथा युद्ध, महार्घता, रोग, अकाल, प्राकृतिक उत्पात अथवा सामाजिक-राजनीतिक अनय-अत्याचार या उत्पीड़न की परिस्थितियों से पैदा होती है। संकट-कालीन जीवन की यही सामान्य धारणा है। इस स्थिति में लक्ष्य की स्थिरता, विचारों की समानता और भाव-संवेदनों की सामूहिकता सुस्पष्ट होती है। दृढ़ता, एकनिष्ठता, आत्म-निर्भरता, त्याग, बलिदान आदि गुणों का विकास ऐसे ही समय किसी भी समाज में चरितार्थ होता है। ऐसे ही समय व्यक्ति-व्यक्ति न रहकर समाज बन जाता है, पारस्परिक संबंधों और वैयक्तिक राग-द्वेषों का व्यापक समाज-भावना में तिरोधान हो जाता है तथा घर-परिवार, धर्म-संप्रदाय, प्रांत-भाषा, मत-पार्टी, आदि की छोटी-छोटी इकाइयाँ वृहत् सामाजिक या राष्ट्रीय घटक के रूप में प्रकर्ष प्राप्त कर लेती हैं। आशय यह है कि संकट के समय जन-समुदाय का जीवन एक महासागर जान पड़ता है। मंद-प्रखर प्रवाह या गहरी-उथली धाराओं का वैविध्य वहाँ विलीन हो जाता है। यही अस्तित्व-रक्षा का परीक्षा-काल है।

मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि व्यक्ति का पृथकत्व संकट के समय समस्त मूल्य-महत्व खो देता है। वस्तुतः व्यापक हित, या महत् लक्ष्योद्देश्य के रूप में उसका विकास होता है। नेतृत्व वही करता है, त्याग और बलिदान वही करता है और यदा-कदा वही

गद्दारी करता हुआ भी दिखाई पड़ता है। वैयक्तिक भिन्नत्व की प्रधानता के स्थान पर ऐसे समय सामाजिक या राष्ट्रीय हित प्राथमिकता पा जाता है। शरीर से पृथक् होकर भी मन से, बुद्धि से, भाव से हम सब एक हैं, यह विचारणा स्वतः स्फुरित होती है। तात्पर्य स्पष्ट है कि व्यक्तित्व विकास के यहाँ भी सभी साधन-सोपान समुपस्थित हैं, किंतु विघटन की प्रवृत्तियाँ, विश्वासघात के कार्य तथा सामाजिक अहित की चेष्टाएँ यहाँ वर्ज्य हैं। सद्गुणों की प्रवर्द्धना यहाँ होती ही है, जैसे-शूर-वीरता, उत्सर्ग-शीलता, आदि। किंतु यह प्रति-वैयक्तिकता जो मनमानी करने लगे नियंत्रण में रखी जाती है। मैं समझता हूँ कि संकट में ही संकल्प-शक्ति ऊर्जस्वित होती है और लक्ष्य-निष्ठता चरितार्थ।

यह संकट की स्थिति स्पष्टतः वैयक्तिक वस्तु नहीं होती। इसे जातीय, राष्ट्रीय या मानवीय स्वत्व अथवा हित से संबंधित होना पड़ता है। यही कारण है कि संकट की सानुपातिकता में व्यक्ति-निष्ठ प्रवृत्तियाँ व्यापक होकर राष्ट्र, समाज अथवा मानव-भावना में पर्यवसित हो जाती हैं। वास्तव में यह उथल-पुथल की अवस्था होती है। तूफान उठने पर बड़े-बड़े स्वार्थी जलचारी भी अनुदार नहीं रह पाते। हमारे अनेक अविज्ञात सद्गुण सहसा सक्रिय हो उठते हैं। यह आपद्धर्म होता है और इसका सामाजिक लक्ष्य सुस्पष्ट। जहाँ-जहाँ सांस्कृतिक चेतना का गहरा प्रभाव होता है, वहाँ-वहाँ उच्चाशयी प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से उभर आती हैं। जहाँ कहीं सांस्कृतिक रिक्तता होती है, वहाँ-वहाँ इसी का वैपरीत्य भी प्रकट होता है। संकट के समय में व्यक्तित्व-विकास के प्रचुर अवसर उपलब्ध हो जाते हैं। मानवता की गुणात्मक प्रवर्द्धना भी इसी समय होती है।

किंतु यह व्यक्तित्व का विसर्जन नहीं है। व्यक्ति की संकीर्णता क्षीण होती है और उसकी व्यापक भावना विकसित। यहीं हमें समाजवादी धारणा और इस निर्वैयक्तिक मनोवृत्ति का अन्तर सुस्पष्ट होता है। यहाँ वैयक्तिकता विनष्ट नहीं होती, वह स्वेच्छया अपना उत्सर्ग करती है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की निष्ठा और उसकी संस्थाएँ अपरिवर्तित रहती हैं। यहाँ समूह-भावना भीतर से प्रकट होती है, ऊपर से नहीं थोपी जाती। और भी यह कि व्यक्ति का मूल्य और महत्व यथावत् स्थिर रहता है। यह व्रत होता है जो स्वीकारा जाता है। इसे स्वानुभूति का अंग समझना चाहिए। किसी मतवाद या राज-नीतिक अथवा सामाजिक सम्प्रदाय, पार्टी या दल का यह सिद्धांत नहीं होता, जिसे शासन कार्य-रूप में परिणत भर करता हो। वैचारिक अनुशासन इसका मार्ग नहीं है। वह स्वतःस्फूर्त आपद्धर्म है, जिसे जीवनास्था प्राणवान् बनाती है और मनोवेग उसको गति को प्रखरता देते हैं। समाजवाद मतवाद का परिणाम है और संकट-कालीन निर्वैयक्तिकता अनुभूत मन-स्थिति। एक शास्त्र-सम्मत कर्म है और दूसरी कलाभिव्यक्ति। फलतः एक रूक्ष है तो दूसरी आह्लादमयी। वैयक्तिक संकट इस अवस्था से नितांत भिन्न हैं, जिन्हें निर्वैयक्तिकता भी अपना अनिवार्य अंग समझती है, किंतु समाजवाद उन्हें इतना महत्वपूर्ण नहीं मानता। एक मानवीय अधिक है, दूसरा सिद्धांतवादी अधिक।

साहित्य

सामाजिक परिस्थितियाँ अनिवार्यतः साहित्यिक कर्तृत्व को प्रभावित करती हैं। समृद्धि की अवस्था के साहित्य का स्वरूप भी विकासोन्मुख समाज के रचना-कार्य से भिन्न होता है। प्रथम अवस्था में प्रौढ़ता, परिमार्जन और अलंकरण अधिक होता है तथा दूसरी अवस्था के साहित्य में लक्ष्य-निष्ठता, जीवनास्था और मानवोत्कर्ष-विधायिनी प्रवृत्तियाँ अधिक। इसी प्रकार शांति और सुव्यवस्था के युग का साहित्य सूक्ष्म विश्लेषणों से युक्त, विवेकपूर्ण तथा कलात्मक बारीकियों से सम्पन्न होता है। अतएव युद्ध, अशांति और अव्यवस्था के काल का साहित्य भी भिन्न प्रकृति का होता है। वह भाव-विदग्ध, आवेश-पूर्ण तथा अप्रसाधित होता है। उसमें नव्यता कम और सामयिकता अधिक होती है। प्रायः स्थायित्व भी उसमें कम होता है। साहित्यकार स्रष्टा का काम करता है, उसका जीवन-द्रष्टा का स्वरूप आनुषंगिक महत्व रखने लगता है। उसकी वाणी में उत्साह और ओज होता है, अतएव उपदेशनिष्ठता बढ़ जाती है। तात्कालिकता का तकाजा होने से उस साहित्य में गांभीर्य, प्रसाधन, समार्जन किंवा कला-नैपुण्य के गुण विरल दिखाई पड़ते हैं। एक खतरा भी हो सकता है और वह है गहन निराशा या मृत्यु पूजा का। यदि संकट की स्थितियाँ बेकाबू हो उठें और हमारे पांव उखड़ जाएँ, तब ऐसा साहित्य रचा जा सकता है। पर उस समय साहित्यिक रचना प्रभाव-हीन भी जान पड़ती है, क्योंकि सबको अपनी-अपनी पड़ी होती है। कभी-कभी इस पराजयी मनोवृत्ति का साहित्य सामाजिक विकास में बाधक भी सिद्ध होता है। चाहे शासन उसे बराबर जप्त करता रहे, पर उसमें सामाजिक अवस्था प्रतिबिंबित अवश्य हो उठती है।

संकट-कालीन साहित्य के अनेक कोटिक्रम हो सकते हैं। यदि उसमें तत्कालीन प्रयोजन भर अभिव्यक्त हुआ है तो वह रचना-कार्य प्रचारात्मक अवश्य हो सकता है, किंतु उसमें साहित्यिक सौकर्य अधिक नहीं होगा। ऐसी रचनाएँ अल्पजीवी भी होंगी। वे उपदेशात्मक हो सकती हैं, पर निश्चय ही उनमें आवेश होगा और जोश की गर्मी रहेगी। ऐसा साहित्य उच्चरित या लिपिबद्ध तो होता है और उसका स्वरूप भी किसी न किसी प्रथित-कला-शिल्प से साम्य रखता है, पर वह 'जर्नलिस्टिक' लेखन या प्रचार कार्य मात्र होता है। उसमें साहित्यिक सौंदर्य अथवा वास्तविक रसात्मकता प्रायः नहीं होती। स्पष्टतः रचनाकार दायित्व-वहन करता है, उसे वास्तविक भावोद्वेलन का गहरा संवेदन अनुभव ही नहीं हो पाता। ऐसी रचना हमारे मर्म को गहराई से स्पर्श नहीं कर पाती।

संकट के समय हम यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि रचनाकार को समाज-बोध ही न हो और वह केवल शाश्वत साहित्य ही रचा करे। चाहे ऐसे साहित्य की मांग न रहे, पर उसका यह कार्य बाहरी आदेशों द्वारा निषिद्ध नहीं किया जाना चाहिए। संकट के समय संपूर्ण समाज की भाव-सत्ता एकरस हो जाती है। उस युग की चेतना में सामूहिकता का तत्व सर्वोपरि होता है। हम अपने-अपने पृथकत्व को भी किसी न किसी रूप

से उस समग्र भाव-सत्ता और युग-चेतना से संबद्ध अनुभव करते हैं। इसी संबद्धता की अनुभूति को यदि हम ठीक अर्थ-व्यक्ति दे पाए तो समझा जाएगा कि यही वास्तविक रचना-कार्य है, अन्यथा वह दायित्व-बोध, युग धर्म की अभिव्यक्ति, वक्तृत्व का आवेश, सम्मान-रक्षा का प्रयत्न, आजीविका का प्रश्न, नेतृत्वाभिलाष या और कुछ हो सकता है। परिस्थिति, तकाजा, फर्माइश या अवसर महत्वपूर्ण नहीं हैं। बड़े काम की चीज है इसी का सच्चा भाव-बोध, जिसका सही-सही-प्रकटीकरण मात्र साहित्य का अभिधेय प्राप्त करने में सक्षम होता है। ईमानदारी सर्वत्र उपादेय नीति है, पर साहित्य का यही प्राणतत्व भी है। साहित्यिक सत्ता वर्ण-माला के अक्षरों की नहीं होती, उनकी सतरों में अंतर्हित प्राणवत्ता की होती है

युग-चेतना

राष्ट्रीय संकट या सामाजिक क्रांतियां साहित्य की प्रेरणाएँ हैं। वह उस युग-जीवन की चेतना है, जिसे किसी न किसी प्रकार रचनाकार रूपायित करता है। व्यक्तिगत संवेदनों की जन-मानस के साथ विलक्षण समरसता ऐसी ही परिस्थितियों में प्रायः स्थापित हुआ करती है। साहित्य-सृष्टि के लिये उपयुक्त अवसर ही नहीं, उर्वरक्षेत्र भी सहज रूप में तभी उपलब्ध होता है। हमें तब विस्मय नहीं होता, जब स्वयं रचयिता प्रचार-कार्य में सहायक सिद्ध हो या अतिरिक्त उत्साह का प्रदर्शन करे, पर जब असाहित्यिक आदेश-निर्देश दिए जाने लगें और मसिजीवियों का भी नेतृत्व करने की कामना बलवती हो उठे, तबजे आचरहिं ते नर न घनेरे' उक्ति उन नर-पुंगवों पर सटीक बैठती देखकर हम अवाक् रह जाते हैं। आवश्यक होता है सबके द्वारा अपने-अपने स्थान पर तत्परता-पूर्वक कर्त्तव्य-कर्म का परिपालन। पर राष्ट्रीय संकट तक को अपने महत्व-ज्ञापन का शस्त्र बना लेने वाले क्या अवसरवादी नहीं समझे जाएंगे ?

संकटापन्न परिस्थितियों का आलेखन तात्कालिक हो सकता है और स्थायित्व भी पा सकता है। यह रचनाकार की मनःप्रक्रिया पर अंततः निर्भर होता है कि उसकी कला सृष्टि किस कोटि की होगी ? राम-रावण या महाभारत का युद्ध हमारी सांस्कृतिक चेतना का अंग इसलिए है, क्योंकि वाल्मीकि और व्यास की वह आर्षवाणी है। उसने अनेक परवर्ती कवियों को भी काव्य-रचना करने के लिये प्रेरित किया है। क्या हम सामयिक रचनाकारों से यह अपेक्षा न रक्खें कि वे पुरजोश लेखन ही न करें, वरन् भारत-चीन सीमा-संघर्ष को अमरत्व भी प्रदान करें। यह तभी संभव है जब हम मानव-जीवन के प्रति आस्थावान् हों और इसे कोरी लड़ाई न समझ कर सिद्धांतों, आदर्शों, जीवन-विधियों और आकांक्षाओं की टकराहट तथा न्याय और औचित्य के हेतु किया गया संघर्ष मानें। आशय यह है कि हमारी दृष्टि वस्तुपरक प्रयोजन तक ही सीमित न रह जाए, अन्यथा हम नेफा और लद्दाख के हड़पे लिये गए भू-खंडों की पैमाइश करते रह जायेंगे तथा जनता के

त्याग और सैनिकों के बलिदान को ही अभिव्यक्त कर पायेंगे। मेरा निवेदन है कि कला-सृष्टि करते हुए हमें अपनी दृष्टि विस्तृत, अनुभूति गहरी और संकल्प-शक्ति प्रखर रखनी चाहिए। हम न्याय और सत्य के लिये लड़ रहे हैं, पर शत्रु की संस्कृति से हमारा कोई बैर-विरोध नहीं है। हम आततायी के मानवत्व से नहीं जूझते, उसके अतिचार का प्रतिरोध करते हैं। हम स्वतंत्रता का अपहरण करने वालों के विरोधी हैं, किन्तु हमें उनके स्वातंत्र्य से कोई बैर नहीं है। हम मानव-विरोधी नहीं हैं, अन्याय के विरोधी हैं। आशय यह है कि साहित्य सृष्टि को चिंतन की भूमिका, कल्पना का आकाश और संवेदन की गहनता भी चाहिए। कोरे भावोच्छ्वासों की सीमित शक्ति से महत् रचना-कार्य संभव नहीं होगा।

मैं उदाहरण प्रायः नहीं दूंगा, पर निवेदन करूंगा कि कोई रचना क्षण-स्थायी मात्र होती है, कोई प्रस्तुत संकट की परिस्थितियों में अस्थायी जीवन यापन करती है और कोई प्रत्येक संघर्ष के युग में स्मरण की जाती है। किन्तु कतिपय रचनाएँ ऐसी भी होती हैं, जो किसी देश की सांस्कृतिक सम्पत्ति बन जाती हैं। इतिहास को साहित्य ही राष्ट्रीय-चेतना का अंग बनाता है। हमें अपेक्षा रहेगी, कि कोई रचना अवश्य रची जा सके, जो तत्कालीन प्राणवत्ता को राष्ट्र की स्थायी निधि बना सके। यथार्थ-बोध और वस्तुनिष्ठ दृष्टि प्रचार-कार्य कर सकती है पर वह मानव की गरिमा के विकास का बहुत दूर तक साथ नहीं दे पाती। समय-सूचकता द्विवेदी-कालीन साहित्य की प्रमुख विशेषता रही है, पर 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास' क्या इसी गुण के कारण चिरस्मरणीय हैं? अभिप्राय यह है कि उपयोगिता और आत्माभिव्यंजना दोनों का मणि-कांचन संयोग ऐसे संकट-काल में ही उपलब्ध हो सकता है। 'रामचरित मानस' में उभय प्रयोजनों का एकीकरण हुआ है तथा 'महाभारत' में ही 'गीता' उच्चरित हुई है, नैतिक उपदेश दिये गये हैं और 'सत्यमेवजयते' का महामंत्र चरितार्थ हुआ है। स्वर्ण-दान, रक्तदान या बलिदान से वास्तविक साहित्य-सृष्टि कहीं अधिक महार्घ है। वह सस्ती न समझी जाए। वह राष्ट्र-चेतना और कलाकार के संपूर्ण व्यक्तित्व का सामरस्य स्थापित होने पर ही आकस्मिक रूप से उद्भासित होती है, जैसे हीरे की खोज या वैज्ञानिक का आविष्कार हो। रचना-कार्य बहुल होकर भी विरल है, प्रचार-प्रवृत्त होकर भी आत्माभिव्यक्ति है, यथार्थ-निष्ट होने पर भी अनुभूत सत्य है। स्पष्टतः कला-कृति सर्जना है, उत्पादन नहीं।

मुझे आवश्यक जान पड़ा कि मैं संकटकालीन साहित्य की सीमाओं को देखूं। अनेकरूपा भाषा-बद्धता वास्तविक रचना-कार्य कब समझी जा सकती है, इसका उल्लेख भी किया गया है। संप्रति जो कुछ छपता है और रचा जाता है—क्या वह वस्तुतः सिद्ध रचना है? वस्तुतः सिद्ध होने की अपेक्षा प्रसिद्ध होना सहज बन गया है। आत्म-निरीक्षण से रहित केवल बहिर्मुखता का क्या परिणाम होता है, यह सांप्रतिक साहित्य में क्या प्रत्यक्ष नहीं होता?

प्रस्तुत-प्रश्न

साहित्यकार किसके प्रति उत्तरदायी है ? राजनीतिक दल, शासन-सत्ता या समाज में से किसे साहित्यकार से कोई विशेष अपेक्षा रखने का स्वाभाविक अधिकार है ? यह प्रश्न विशेषतः नई जीवन-विधियों के संदर्भ में पूछा जाएगा। मैं समझता हूं कि रचना-प्रक्रिया वस्तुतः कलाकार का आभ्यंतर सत्य है, वस्तु-परक तथ्य नहीं। राज्य-सत्ता समाज-व्यवस्था का प्रतीक होती है, पर वही आचरण में मतवाद, नीतिष्ठता या अपनी अस्तित्व-रक्षा के प्रयत्नों के कारण संकीर्ण बनती है और उसका निर्देशन भी रचनाकार को प्रायः स्वीकृत नहीं होता। शासन या राजनीतिक पार्टी के निर्देशन में वास्तविक साहित्य की रचना की ही नहीं जा सकती, क्योंकि रचनाकार की अपनी स्वतंत्रता ही उस परिस्थिति में खत्म हो जाती है। संकेत समाज की परिस्थितियां देती है और रचनाकार का अपना संवेदन सक्रिय होता है, तभी शांतिकालीन ही नहीं, संकटकालीन साहित्य भी रचा जाता है, अन्यथा प्रचार-पुस्तिकाएं या प्रशस्ति गीताएं लिखी जाती हैं। रचना-कार्य के क्षण विना आत्म-केन्द्रित हुए स्वभावतः सुलभ नहीं होते। उसकी इस विवशता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसे मान कर ही कृति का मूल्य और महत्व परीक्षित होना चाहिए। साहित्य सामान्यतः मानव-जीवन से संबद्ध होने के कारण उसी के मूल्यों को चरितार्थ कर सकता है। यदि नहीं तो वह रचना सामाजिक मूल्य से रिक्त ही होगी। समाज शब्द कई संदर्भों में प्रयुक्त होता है, अतएव मुझे यही अभीष्ट है कि कृति का मूल्य जीवन-विषयक समझा जाए और महत्व सामाजिक संगठन की भावना से संबंधित। यह सामान्य स्थितियों की बात है, किंतु आपद्धर्म के रूप में क्या किया जाए, यह प्रश्न भी प्रासंगिक है। कोई विध्यात्मक उत्तर मैं नहीं दूंगा, पर कहूंगा यही कि साहित्यकार का कोई भी कृतित्व राष्ट्रीय या सामाजिक रीति-नीति का प्रत्यक्ष या परोक्ष विरोधी न हो। उसका चिन्तन देश और समाज को समर्पित हो जाए तो संकटकाल निश्चय ही सफलताओं का पूर्वाभास प्रमाणित हो। मैं डायरेक्शन देने के पक्ष में नहीं हूं, पर जानता हूं कि परिस्थितियों के प्रति हमारा साहित्यिक निरंतर ईमानदार बना रहेगा, क्योंकि यही उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

यहां एक और प्रश्न भी प्रस्तुत होता है। मार्क्सवादी की दृष्टि में साहित्यिक रचना प्रचार का साधन है और प्रजातंत्र भी संकट-कालीन परिस्थितियों में साहित्य से यही अपेक्षा करता है। दोनों दृष्टियां परिणामतः एक सी जान पड़ती हैं। क्या इनमें अभेद समझा जाए ? समाजवादी शासन के अंतर्गत सभी उत्पादनों की भांति साहित्य भी एक उत्पादन है, जिसका सामाजिक उपयोग होना ही चाहिए। राजनीतिक मतवाद का उसके द्वारा सफलतापूर्वक विचार किया जा सकता है। 'शिवेतरक्षतये' तथा 'कान्ता सँम्मिततयोपदेश युजे' होने के बावजूद साहित्य केवल सांप्रदायिक वस्तु अथवा मतवाद का उत्कृष्ट

प्रचारक नहीं है। वह वस्तु-सत्य न होकर भाव-सत्य है, यथार्थ-बोध न होकर युग-चेतना है तथा जन-समूह की संसृष्टि न होकर व्यक्ति की रचना है। प्रजातंत्र समूहवाची वस्तु न होकर मानववादी राज्य-व्यवस्था है। वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य का विस्मरण नहीं करता। उसने राष्ट्रीय संकट में योगदान करने के लिए देश के सभी नागरिकों का आह्वान किया है। साहित्यकार चाहें तो देश-व्यापी उद्वेलन को वाणी का परिधान पहनाएँ और न चाहें निस्संदेह वे प्रतिरक्षात्मक प्रयत्नों का प्रतिरोध करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं, तो अन्यान्य विषयों को *अभिव्यक्त करते रहें। उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।* हमारे देश के कतिपय साहित्यिकों ने स्वेच्छया राष्ट्रीय प्रति-रक्षा का रचनात्मक सेवा-व्रत ग्रहण किया है। वाणी-स्वातंत्र्य इस परिस्थिति ने भी हमें दे रक्खा है। इतना ही आवश्यक समझा गया है कि कोई वाणी राष्ट्र-विरोधी स्वर मुखरित न करें और यह प्रत्येक राज्य-व्यवस्था निरंतर करती आई है।

युद्ध और शांति की परिस्थितियों में प्रकृत्या अंतर होता है। प्रजातंत्र सिद्धांततः *मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन को अंगीकृत कर ही नहीं सकता। पर व्यवहार में हमने जनवाद* की सीमाओं के अंतर्गत प्रजातांत्रिक समाजवाद या मानववादी समाजवाद की धारणा बनाई है। अपनी राष्ट्रीय चेतना के अनुरूप हम प्रजातंत्र और समाजवाद दोनों की विशेषताओं का आकलन करते आए हैं। समाजवाद की हमने व्यावहारिक उपयोगिता स्वीकार की है, पर मानववादी प्रवृत्तियों से हम समीपी संबंध भी रख सके हैं। इसी कारण व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सामाजिक समत्व और न्याय दोनों को हम समान महत्व की वस्तु समझते हैं। फलतः हम तटस्थ राष्ट्र हैं, किसी पावर ब्लाक के पेरेसाइट या शक्ति-संगठन के आश्रित नहीं। मैं समझता हूं कि यही भारत का वैशिष्ट्य है, अन्यथा कलाकारों की बँटेलियन युद्धोद्योग-विषयक रचनोत्पादन ही कर पाती। सारांश यह है कि संटककाल हमारी समग्र भाव सत्ता को प्रदत्त प्रचंड ललकार है। भारत का साहित्यिक उभरे वक्ष, तने मस्तक और बंधी मुट्ठी से इस चुनौती को स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि मुक्त कंठ और सधी लेखनी से उसे निरुत्तर भी कर रहा है।

१०

राष्ट्रीय एकता और साहित्यकार का दायित्व

: १ :

समस्या

भारतीय साहित्य में मूलभूत एकता की प्रवृत्ति स्वतः चरितार्थ होती है। व्यक्तिगत, स्थानगत और भाषागत विभेद होते हुए भी भारतीय साहित्य-धारा कभी असंवादी किंवा विश्रृंखल नहीं हुई। भारतीय जीवन की मौलिक चेतना उसमें सर्वत्र परिव्याप्त दिखाई पड़ेगी। कलागत अन्तर और युग-चेतना के पार्थक्य बोधक उपकरण उसमें अवश्य सुस्पष्ट हैं, किन्तु सांस्कृतिक धारा ही जब अनेकता में एकता का भाव-बोध करती आई है, तब साहित्य के अन्तर्गत भी वही प्राण-धारा क्रियमाण रही है। यदि स्थानीय भेदों और भाषागत विशेषताओं को कम महत्वपूर्ण माना जाए तो हमें काल-विशेष के भारतीय साहित्य में मूलभूत एकता का अन्तर्दर्शन होगा। समस्त भारत परम्परा, विचार-धारा और भौतिक तथा मानसिक परिस्थितियों की एकता में ही अपना विकास करता आया है। अतएव उसके साहित्य में भी प्रायः प्रत्येक युग में समान प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्त होती रही हैं। निष्कर्ष यह है कि भारतीय साहित्य युग-चेतना का तात्विक आधार ग्रहण करता रहा है। उसने इस चेतना का नियमन और परिष्कार भी किया है।

यह तो स्पष्ट ही है कि हमारे देश का साहित्य प्रत्येक युग में नये-नये उपकरणों का आकलन करता रहा है। वह हमारे समाज का जीवन्त भाव-संवेग है। उसने भारतीय जीवन को खंड-खंड करने का कभी आयोजन नहीं किया। धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक विभेदों में भी उसने रागात्मक एकता का ही स्वर-संधान किया है। वर्ण-व्यवस्था, आर्थिक-विषमता, राजनीतिक फूट और संकीर्णता, धार्मिक मतमतान्तर तथा दार्शनिक

सिद्धान्त-भेद साहित्य के अन्तर्गत आकर अपनी समस्त संकीर्णताओं को खो देते रहे हैं। इसका कारण यह है कि भारतीय जीवन, दर्शन और साहित्य आदर्शनिष्ठ रहा है। आधुनिक-काल में भी नवोत्थान की वाणी सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में गुंजरित हुई है। हमारे साहित्यिकों ने अतिवादी पक्ष का कभी आग्रह नहीं दिखाया। वे प्रायः मध्य-मार्गी ही रहे हैं। इसी कारण साहित्य की एकता सुस्थिर रही है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य उदात्त परिकल्पनाओं का साहित्य है। वहाँ भी विघटन के तत्व अनुपलब्ध हैं। सामयिक साहित्य यथार्थवादी भूमिका पर अधिष्ठित है और राजनीतिक-चेतना से अनुप्राणित। हमारी भाषाओं के समग्र साहित्य में व्यक्तिवाद और समाजवाद, प्रयोग और प्रगति किंवा अन्तश्चेतना और भौतिकता की प्रवृत्तियाँ सम्प्रति विकासमान् हैं। अतएव साहित्यिक धाराओं में प्रवृत्तिगत विषमता प्रायः दृष्टिगत नहीं होती। निष्कर्ष यह है कि हिंदी के तथा प्रांतीय भाषाओं के साहित्य में समानता मौजूद है। राजनीतिक,आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ भी प्रायः एक जैसी हैं। हमारी जीवन-व्यवस्था और उसके सामाजिक मूल्य सर्वत्र संक्रमणशील हैं। इन परिस्थितियों में राष्ट्रीय एकता का प्रश्न कम से कम साहित्यिक धरातल पर युक्तियुक्त नहीं ठहरता। राष्ट्र की साहित्यिक धाराओं में एकरूपता विद्यमान है, किंतु साहित्येतर और स्थूल संदर्भों में साहित्यकारों को कर्त्तव्य बोध कराने का असाहित्यिक कार्य भी किया जाने लगा है।

भाषावार प्रांत-रचना के उपरांत राजनीतिज्ञों के खेमों में प्रांतीयता, जातीयता, सांप्रदायिकता तथा अन्य संकीर्ण मनोवृत्तियाँ प्रकट होने लगी हैं। धर्म-सम्बन्धी असमान मनःस्थितियाँ नष्ट नहीं हो पाई हैं। देश के इन कर्णधारों को चिंता होनी ही चाहिए। राष्ट्रभाषा हिन्दी, जो देश को एक-सूत्र में आबद्ध करने की क्षमता रखती है, उसे अंग्रेजी की समकक्षता में तुच्छ समझकर पीछे ढकेला जा रहा है, दूसरी ओर हमें कर्त्तव्य का ज्ञान भी कराया जा रहा है। राष्ट्रगीत, राष्ट्रपताका और राष्ट्रभाषा राष्ट्र की एकता के प्रतीक हैं। राष्ट्रभाषा के प्रतिपक्ष में एक ओर अंग्रेजी रख दी गई और दूसरी ओर भाषावार प्रांतों की रचना करके प्रादेशिक भावनाओं को अनुचित उभार दिया गया। इस परिस्थिति में यदि राष्ट्र की एकता में दरार पड़ती हुई दिखाई पड़े तो विस्मय ही क्या है ? हमें इस बात की प्रसन्नता है कि राजनीतिक शक्ति की अपेक्षा साहित्यिक और भाषिक शक्ति की महत्ता तो अधिक समझी गई। राजनीति हमारा वर्तमान है और साहित्य हमारा जीवन। इस तथ्य को विस्मृत न किया जाए तो विघटनकारी तत्वों का निराकरण किया जा सकता है।

मैं समझता हूं कि राष्ट्रीय एकता का अर्थ राष्ट्रीय-जीवन की एकता है। सम्प्रति जिन संकीर्णताओं से हमारा राष्ट्र-जीवन आक्रांत है, उन्हें अपसारित करने की चेष्टा की जानी चाहिये। पर यहां राजनीतिक-समस्या का साहित्यिक उपचार सोचा जा रहा है। इसे विलक्षण संयोग ही समझा जाएगा। हमारा वर्तमान-युग प्रचार और प्रसार का

युग है। इसमें उत्कर्ष कम और विस्तार अधिक है। स्वभावतः हम स्थूल दृष्टिकोण से ही हर वस्तु की जांच-पड़ताल करने लगे हैं। हम लोगों ने विविध योजनाओं का सूत्रपात किया है। नये-नये कल-कारखाने, बांध, इमारतें और अन्यान्य उपकरण एकत्र किये हैं। इन योजनाओं की तरह भावात्मक एकीकरण भी एक सरकारी योजना है। यहीं एक मौलिक विभेद तथा वैचारिक असन्तुलन प्रत्यक्ष होता है। वस्तु जगत् और भाव-जगत् में सापेक्षिक संबंध हो सकता है, पर दोनों एक वस्तु नहीं हैं। पुरुष और स्त्री ये दो इकाइयाँ अथवा शरीर हैं, पर यदि वे दम्पत्ति अथवा प्रेमी हैं तो उनमें भावात्मक सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार अधिकारी होने और अधिकार-भावना रखने की भी पृथक् सीमाएँ हैं। मेरा आशय यह है कि योजनाओं में और साहित्य में मौलिक अन्तर होता है। वस्तु का निर्माण होता है और साहित्य की सर्जना की जाती है। दोनों की प्रेरक शक्तियां भिन्न होती हैं। लोक-सभा या विधानसभाएं मूर्त वस्तुएँ हैं, राजनीति उनका अमूर्त व्यापार है। इसी प्रकार विकास-योजनाएँ स्थूल उपलब्धियां है और भावात्मक एकता सूक्ष्म संवेदना है। स्पष्टतः हम साहित्य को उसी तराजू पर नहीं तौल सकेंगे, जिस पर नये-नये उत्पादन-कार्यों का भारीपन परखा जाता है। साहित्य वास्तव में मानवता का उच्चार है, मानवीय आवश्यकताओं का विज्ञापन नहीं। इसी हेतु राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को साहित्य की सृजन-प्रक्रिया से संग्रथित किया जाना मुझे भ्रांतिपूर्ण ज्ञात हुआ। राजनीतिज्ञों ने जिस जीवन का निर्माण किया है, उसकी प्रामाणिक अभिव्यक्ति से वे घबड़ाते क्यों हैं? यह समस्या बहुत-कुछ सतही है और स्थूल जीवन-दृष्टि की परिचायक भी।

: २ :

राष्ट्रीय एकता

साहित्य के अन्तर्गत राष्ट्रीय-एकता का स्थूल अर्थ ग्रहण करने की तजबीज में नहीं कर सकूंगा। तवेले की बला बन्दर के सिर नहीं मढ़ी जानी चाहिए। राष्ट्र-जीवन को कोई बिगाड़ता चला जाए और उसे न सुधार पाने की जिम्मेदारी साहित्यकार पर रक्खी जाए, यह अनुचित है। साहित्यकार स्रष्टा है, सुधारक नहीं; द्रष्टा है, प्रवक्ता नहीं; सहृदय है, अवसरवादी नहीं। वह युग-चेतना को आत्मसात् करके जीवन का पुनर्प्रत्यक्षीकरण करता है। राजनीति की कुरूपता इसी कारण साहित्य में नयनाभिराम बन जाती है।

साहित्य के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता का क्या अभिप्राय लिया जाए? साहित्यकार राष्ट्रीय एकता को खंडित करने का उपक्रम न करे, यह अपेक्षा रक्खी जा सकती है। वास्तव में इतनी सीमित मनोदृष्टि, जो प्रांतीय-भावनाओं को उभार कर राष्ट्रीय एकता का विघटन करने लगे, किसी भी साहित्यकार में खोज पाना कदाचित् सम्भव नहीं है। इसका यह कारण है कि साहित्य राजनीति का अनुचर नहीं है। जब तक भारत में साहित्य

की स्वतंत्र सत्ता अरक्षित नहीं है, तब तक इस प्रकार के खतरे आशंका की परिधि में नहीं आते। यदि कोई साहित्यिक विघटन का स्वर मुखरित करने लगे, तो वह साहित्यिक नहीं रह जाएगा। उसे तो राजनीतिज्ञ ही कहना होगा। उसकी रचना भी साहित्य नहीं होगी, पत्रकारिता होगा। वह कला-सृष्टि नहीं करेगा, मत-वाद का प्रचारक होगा। साहित्यिक-कृति और राजनीतिक-पेम्फलेट या पुस्तक एक ही वस्तु नहीं हैं। साहित्यकार का भी जीवन-दर्शन होता है, पर वह मानव-सापेक्ष होता है, केवल परिस्थिति-सापेक्ष नहीं। आशय यह है कि राष्ट्र को खंडशः निरूपित करने की अस्वास्थ्यकर प्रवृत्ति का वह प्रायः शिकार नहीं होता। अन्यथा वह अपवाद ही नहीं, अवहेलनीय भी माना जाएगा, उसको लोकप्रियता भी अर्जित नहीं हो पाएगी।

दायित्व-बोध कराने के निमित्त क्या साहित्यकार को यह परामर्श अथवा आदेश दिया जाए कि वह केवल राष्ट्रीय-एकता की नीति का समर्थन करता रहे? यह कार्य साहित्यिक-विकास के लिये घातक सिद्ध होगा। साहित्य राजनीतिक रीति-नीति अथवा मत-वाद का यदि प्रचार ही करता रह गया तो वह सत्य से पराङ्मुख ही नहीं होगा, शक्ति और सौन्दर्य भी उससे अपहृत हो जाएगा। यह तो वहीं सम्भव है, जहाँ अधिनायकतंत्र अथवा सैनिक-शासन हो। कोई भी समझदार लोकतंत्र का प्रेमी साहित्य का रेजिमेंटशन कभी पसन्द नहीं करेगा। कलाकृति का भी क्या जबरन निर्माण कराया जा सकता है? साहित्य की अपनी सत्ता ही स्वायत्त नहीं है, वरन् सिद्धान्त और नियम भी उसके अपने हैं। राजनीति उसे दृष्टिकोण मात्र कभी दे सकती है, जो यदि महान् होगा तो कृति भी मूल्यवान् होगी। स्पष्टतः मैं किसी असाहित्यिक आदेश को स्वीकार किये जाने के पक्ष में मतदान नहीं करूँगा।

इस राष्ट्रीय एकता की धारणा का एक और पक्ष भी है, जो मेरी दृष्टि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और उपादेय है। राष्ट्रवाद साहित्य की एक रागात्मक चेतना है। राष्ट्र के भौतिक अस्तित्व की अपेक्षा उसका घनिष्ठ सम्बन्ध राष्ट्र की सांस्कृतिक निधि और मानवीय जीवन-निष्ठा से है। आदर्श राष्ट्रीयता तो वह है, जहाँ उसका अन्तर्राष्ट्रीय अथवा मानववाद से बैर-विरोध निःशेष हो जाता है। गांधीजी राष्ट्रवादी थे, फिर भी वे अखंड मानव-संस्कृति की शब्दावली में राजनीति को सोचते-समझते थे। रवींद्रनाथ भी प्रांत, राष्ट्र और विश्व में कोई वैषम्य नहीं देखते थे। सच्चा राष्ट्रवादी प्रांतीय-विशेषताओं और मानवता के अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों का अपने जीवन में आकलन करता है। राम के चरित्र की कल्पना उदात्त मानवीय गुणों के आधार पर ही की गई है। अपने समस्त कार्य-कलापों के भीतर राम उत्कृष्ट मनुष्य चित्रित हुए हैं। देश, काल और जाति की बंदिशों में राम बँधे हुए नहीं हैं। यही मानवीय गुण साहित्य का मूल मंत्र है, इसी कारण साहित्य संस्कृति का अनिवार्य अंग है। इस स्थिति में राष्ट्रीय एकता साहित्य के लिये प्रासंगिक विशेषता मात्र हो सकती है। वह जीवन के वैविध्यपूर्ण चित्रण को एक क्षीण आधार ही दे सकेगी। अतएव उसका महत्व निश्चय ही सीमित और तात्कालिक है।

साहित्य युग-जीवन का निर्जीव विवरण या रूपाकार मात्र प्रस्तुत नहीं करता। वह अपने युग की उत्थानशील या ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों को प्रकट करता है। उसका अस्तित्व क्षण-स्थायी नहीं है। वह काल की सीमाओं को अतिक्रांत करने की शक्ति रखता है। यही कारण है कि साहित्य के लिये राष्ट्रीय एकता का लक्ष-निर्धारण अर्थ-हीन ज्ञात होता है। जो वस्तु तात्कालिक प्रयोजन से परिबद्ध नहीं है, उसे वही उद्देश्य सौंप देना क्या समझदारी कही जाएगी? प्रेमचंद का साहित्य उनकी सुधारवादी मनोवृत्ति या यथार्थ-प्राय चित्रणों के कारण स्थायी नहीं हैं। वरन् मानवीय मूल्यों की रसवत्ता के कारण वह अमर है।

: ३ :

साहित्यकार

साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न अव्यावहारिक जान पड़ता है। नागरिकता का सामान्य ज्ञान रखने वाला यह जानता है कि दायित्व वहीं होता है, जहाँ कुछ अधिकार दिये जाते हैं। जनमानस को प्रेय प्रतीत होना ही साहित्य का अधिकार-क्षेत्र है। अतएव उसका कर्त्तव्य भी समाज की चित्तवृत्तियों से ऐक्य अनुभव करना है। यह कर्त्तव्य-बोध कोई प्रत्यक्ष वस्तु नहीं है, क्योंकि अधिकार की स्थिति भी ठोस नहीं है। इन्हें केवल वैचारिक धरातल की उपज समझना चाहिए।

यह दायित्व ठोस आधार भी रख सकता है। मेरा आशय यह है कि यदि साहित्यकार को राज्य से वृत्ति दी जाए अथवा आश्रय प्राप्त हो तो उससे यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह राजकीय सेवा करे अथवा अपने प्रभुओं को प्रसन्न रखे। वह राज्य की तत्कालीन नीति का समर्थन कर सकता है और शासन के कर्णधारों का यशोगान भी। विशिष्ट साहित्यकारों ने राज्याश्रय प्राप्त होने के पूर्व जिस कोटि का साहित्य रचा था, उस कोटि का साहित्य उन्होंने वेतन-भोगी होने के उपरान्त नहीं रचा। मैं हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में दरबारी काव्य की पुनरावृत्ति नहीं करवाना चाहता। साहित्य गतिशीलता का आकांक्षी होता है। जीवन का विकास ही उसे अनुप्राणित करता है। निश्चय ही यह तथ्य ह्रासशील साहित्य पर लागू नहीं होता। मैं समझता हूँ कि राष्ट्रीय एकता जैसे पवित्र विचार के लिए वकालत करने की जरूरत नहीं है। इस कार्य के लिये साहित्य को ह्रासोन्मुख बनाने का विचार तक भी मुझे असंगत ज्ञात होता है। आशय स्पष्ट है कि साहित्यकार के संदर्भ में दायित्व शब्द का प्रयोग ही दोष-पूर्ण है। साहित्यकार को दायित्व का बोध अप्रत्यक्ष रूप से उसका समाज ही कराता है। यह अनुभूति की वस्तु है, जो मन में पैदा होती है, ऊपर से लादी नहीं जाती।

सामयिक विचारधारा जो प्रायः यथार्थवादी है, साहित्यकार के सामाजिक-दायित्व के प्रश्न को उपस्थित करती है। इसका आशय यही है कि साहित्यिक आत्मलीन, कल्पना-

जीवी अथवा पलायनवादी न हो जाए। युग-जीवन से आँखें मूंद लेना किंवा अनुप्राणित न होना तो साहित्य की स्थिति तक के लिये घातक है। इस सन्दर्भ में राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को भी रखखा जाने लगा है। मेरा निवेदन है कि विचार-स्वातंत्र्य की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। साहित्यकार अपने युग के प्रति संवेदनशील हो तथा ईमानदार बना रहे यह आवश्यक है, किंतु वह राजनीतिक कार्यकर्त्ता अथवा पत्रकार के रूप में दिखाई पड़े, यह अश्लाघ्य है। राष्ट्रीय एकता के सांचे में साहित्य को ढालने का उपक्रम करना सांस्कृतिक दृष्टि से अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है। साहित्य के लिये विस्तार का निर्देश कीजिए। उसे सीमाओं में बांधने की चेष्टा क्यों करते हैं? हमने सरस्वती को जननी के रूप में देखा है और कला-चेतना का प्रतीक माना है। साहित्यकार का प्राथमिक-कर्त्तव्य इसी भाव-बोध के प्रति है। जिस सरस्वती की भारत ने उपासना की थी, उसी को महाराजिन का पद तो मत दीजिए। चाहे कम पौष्टिक आहार ही मिले तो भी मातृ-पद को महत्व देना ही चाहिए। निष्कर्ष यह है कि साहित्य को वैविध्यपूर्ण सौंदर्य से मंडित रखा जाना ही समीचीन होगा। केवल उपयोगिता की दृष्टि से उसे वैचारिक एकरूपता के वर्ग में संगठित कर देना अवांछनीय कार्य है। साहित्य को स्वतंत्र ही रहने दिया जाए। उसके लिये राजकीय दासत्व प्राणघातक सिद्ध होगा।

कालिदास राज्याश्रित कवि रहे हैं। पर उन्होंने कला की साधना की थी, आश्रयदाता का गुणगान नहीं किया। तभी वे भारत के गौरव हैं। क्या उस गौरवमयी परम्परा को भारत खो दे? इसका यह अर्थ नहीं है कि साहित्यकार दायित्वहीन प्राणी होता है। उसे यह स्वतंत्रता है कि वह जो चाहे कहे या लिखे। पर वह स्वानुभूति को जब तक साधारणीकृत नहीं कर पाता, तब तक वह प्रकृत साहित्य की रचना करने में असमर्थ होता है। यह स्वानुभूति भी युग-जीवन के आधार पर आकार ग्रहण करती है। जो जितना बड़ा लेखक या कवि होता है, उसकी स्वानुभूति भी उतनी ही उदात्त और व्यापक होती है। युग प्रेरणास्थली है और अनुभूति साहित्य की प्राणधारा। इन्हीं की सक्रियता से साहित्यिक नवोद्भावना संभव होती है जो युग-जीवन को स्थायी सौंदर्य का अभिप्रेत प्रदान करती है। निश्चय ही रचनाकार अतीत को त्याज्य और अनागत को विस्मृत नहीं रखता। आगत शक्ति से यदि साहित्य परिबद्ध हो गया तो वह सम्भवतः अपनी प्रेयता कम खोएगा, श्रेयत्व से कहीं अधिक विपन्न हो जाएगा। सामाजिक कार्यकर्त्ता और साहित्य-स्रष्टा का मौलिक अन्तर यही है कि एक की सीमा आगत है, दूसरा अनागत में इसी विवर्तन के अमृत-तत्त्व का प्रक्षेप करता है। जिस भांति योगी अध्यात्म-साधना में अपने शरीर का ही उपयोग कर लेता है, उसी प्रकार साहित्यकार जीवन की परिस्थितियों और समस्याओं को साहित्य के अंतर्गत रमणीय और रसात्मक रूप प्रदान करता है। उसका साध्य रस-संचार या सौन्दर्य-बोध होता है। अतएव राष्ट्रीय-एकता का लक्ष्य साहित्य-सर्जना की प्रक्रिया और उसके साधारणीकरण व्यापार में अतिशय गौण स्थान के अधिकार की मांग कर सकता है।

राष्ट्रीय-एकता का लक्ष्य सम्प्रति हमारे लिये उपादेय वस्तु है। हमारा साहित्य-कार भी देशवासी है, अतएव उसे अपने दैनिक जीवन में इसे महत्व देना चाहिए और अपने रचना-कार्य में विघटनकारी विचारों से उसे प्रायः असम्पृक्त ही रहना चाहिए। इनकी सीमाओं का वह निदर्शन भी कर सकता है। वह जाति, सम्प्रदाय, पार्टी या प्रांत विशेष का प्राणी होने के पहले एक साहित्यकार है, जिसका प्रभाव-क्षेत्र देश-काल से बाधित नहीं है। इसलिए वह इस प्रकार के तात्कालिक कार्यक्रमों को असाधारण महत्व न दे बैठे, यह ध्यान रखना भी आवश्यक है। विघटनकारी प्रवृत्तियों को कोई साहित्य उभारता नहीं है। मैं तो यह आशंका ही निर्मूल मानता हूँ, फिर भी अवधानता बरत लेने में कोई हानि नहीं है।

: ४ :

सारांश

मैं साहित्य की स्वतंत्र सत्ता ही नहीं मानता हूँ, बल्कि उसे खंडशः देखने का पक्षपाती भी नहीं हूँ। जो साहित्यकार विनाशकारी तत्वों और विघटनकारी प्रवृत्तियों को ही निरूपित करता है, वह वास्तविक साहित्यकार नहीं हो सकता। सौंदर्य की अनुभूति रोग में नहीं है, रोग से छुटकारा पाने में है। अस्वस्थ मन का साहित्य लोक-प्रिय होता ही नहीं है, अतएव उससे खतरा भी नहीं है। वह वास्तव में मानसिक रोग है, कलाकृति नहीं। स्वस्थ मन में ही उत्थान की चेष्टा और विकास की प्रवृत्तियाँ अनुस्यूत होती हैं। यदि हमारा देश विकासशील है और साहित्यकार नीरोग तो राष्ट्रीय एकता भी सुस्थिर है। यदि राष्ट्र का विकास रुक गया है और साहित्यकार रुग्ण हो उठा है तो साहित्यकार को दायित्व-बोध कराने के पूर्व स्वयं राज्य-शक्ति को अपने कर्त्तव्य का तत्काल परिज्ञान कर लेना चाहिए। यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। यदि इन दोनों अवस्थाओं के मध्य कहीं हमारी स्थिति है तो आवश्यक है आत्मशोधन, कर्त्तव्योपदेश नहीं।

११

नन्ददुलारे बाजपेयीजी के समीक्षा सिद्धांत

। १ ।

बाजपेयीजी की साहित्य-समीक्षा का सैद्धान्तिक आधार क्या है अथवा उनकी साहित्य-विषयक विचार-दृष्टि का क्या स्वरूप है, यही जान लेना यहाँ हमारा उद्दिष्ट है। बाजपेयीजी की समीक्षा-पद्धति किसी प्रथित परंपरा अथवा प्रतिष्ठित सैद्धान्तिक मान्यता का न सीधा विकास है, न अनिवार्य प्रतिफलन। उनका रसवादी या कलावादी समीक्षक माना जाना एकांगी कथन ही सिद्ध होगा, इसी भांति उन्हें मात्र नवोत्थानवादी, मानववादी या स्वच्छंदतावादी चिन्तक की कोटि में परिगणित करना भी अपूर्ण तथ्य जान पड़ेगा। उन्हें किसी बंधे-बंधाए फार्मूले का समीक्षक नहीं कहा जा सकेगा। हिन्दी की छायावादी कविता जिस प्रकार विविध प्रभावों और विचार-दृष्टियों को अपनाने पर भी एक नया प्रवर्तन समझी गई, उसी प्रकार बाजपेयीजी का साहित्य-विषयक प्रतिमान न केवल साहित्य-चिन्तन का ऐतिहासिक विकास है, वरन् वह एक अभिनव उपलब्धि है। रचना और आलोचना का अंतरावलंबन जीवित साहित्य के क्रम-विकास का अनिवार्य लक्षण है। छायावादी कविता की प्रतिष्ठा और आधुनिक साहित्य की गतिविधि के साथ बाजपेयीजी की समीक्षा घनिष्ठ रूप से संबंधित है। यदि नया नाम ही दिया जाय तो बाजपेयीजी के समीक्षा-सिद्धांत को छायावादी समीक्षा-सिद्धांत का अभिधेय दिया जाना चाहिए। उनकी आलोचना के मान-दंड का विकास क्रमशः हुआ है, क्योंकि यह अर्जन या उपलब्धि है, परिबद्धता या सीमा नहीं।

बाजपेयीजी की साहित्य-विषयक धारणा वाद-मुक्त है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें जीवन-दृष्टि का अभाव है। निश्चय ही वह समुन्नत जीवन-दृष्टि पर आधारित

है, पर उसमें मानवीय पक्ष प्रधान है, बौद्धिक निरूपणों से आच्छन्न सैद्धान्तिक पक्ष नहीं। उनका मत है कि "काव्येतर समस्त तत्व, वाद और साधना-क्रम स्वतंत्र अध्ययन के विषय अवश्य रहें। परन्तु काव्य-विवेचन के अवसर पर इन सबका पर्यवसान रचयिता की मनःस्थिति और जीवन-दृष्टि तथा काव्य की भाव-पीठिका के अंतर्गत हो जाना चाहिए।" आलोचना का विषय है साहित्य और उसी के अंतर्वर्ती तत्वों के आधार पर उसका विवेचन किया जाना चाहिए। समीक्षक अपने मत या वाद को ही साहित्य पर थोपता जाए तो वह साहित्य का प्रामाणिक विवेचन नहीं कर पाएगा। आशय यह है कि समीक्षा साहित्य के मर्म को लक्षित करती है, वह विविध प्रकार की शास्त्रज्ञता या सिद्धांतवादों के आधार पर की गई साहित्य-परीक्षा नहीं है। वे साहित्य की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तों की स्थिति साहित्य-सापेक्ष है। ये साहित्य के भीतर से आते हैं, ऊपर से नहीं लादे जाते। अवश्य ही वाजपेयीजी को साहित्यकी जीवन-निरपेक्ष सत्ता मान्य नहीं है। अतएव वे जीवन-विषयक बौद्धिक-निरूपणों या वादों की स्थिति को स्वीकार करते हुए भी उन्हें साहित्यिक प्रक्रिया में अंतर्निहित ही मानते हैं। साहित्य की समीक्षा का प्रतिमान साहित्य-विषयक होना चाहिए, धर्म, दर्शन, शास्त्र या विज्ञान का मतवाद या सिद्धांत नहीं। साहित्य की रसवत्ता या उसका सौंदर्य उसके आंतरिक गुणों पर निर्भर होता है, किसी विशेष मत, सिद्धान्त या जीवन-दृष्टि पर नहीं। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वाजपेयीजी साहित्यवादी हैं। उन्हें समीक्षक का लक्ष्य और उसकी संधान-प्रक्रिया में सर्वोपरि महत्ता की वस्तु काव्यत्व या साहित्य तत्व ज्ञात हुआ है। वाद या सिद्धांत सहायक तत्व हैं, मूल वस्तु नहीं। वाजपेयीजी ने साहित्य के इसी स्वायत्त शासन को स्वीकार किया है। साहित्य का विषय जीवन है, शास्त्र नहीं। इसी प्रकार समीक्षा का क्षेत्र साहित्य है, मतवाद नहीं। नई विचारणा का स्वागत साहित्य-स्रष्टा और साहित्य-समीक्षक दोनों करेंगे, पर वही आलोचना का मान नहीं होगा।

नव्यतम समीक्षा-शैलियों के संदर्भ में वाजपेयीजी का कथन है कि "साहित्य की समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक अथवा प्रभावाभिव्यंजक व्याख्याएँ और समीक्षा-शैलियाँ अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। उनकी सार्थकता साहित्यिक समीक्षा-पद्धति से मिल कर काम करने में ही है। हमारी साहित्यिक समीक्षा-पद्धति निरंतर विकासशील होगी और वह अन्य शैलियों या मतवादों द्वारा प्रस्तुत की गई नई विशेषताओं या नवीन ज्ञान का समुचित उपयोग करेगी। परंतु ऐसा करती हुई वह अपनी परंपरा को छोड़ नहीं देगी, और न पूर्णतः नई कहलाने के लिए विदेशी जीवन-दर्शनों और विचार-पद्धतियों का आँख मूंदकर अनुसरण करेगी।" साहित्यिक समीक्षा-पद्धति क्या है? वह 'व्यापक, अनुभूत और निरापद' वस्तु है। वस्तुतः वह छायावादी समीक्षा-पद्धति का विकास ही है, जिसमें वस्तुनिष्ठता, सामाजिक चेतना और साहित्यिक मर्मज्ञता का अंतर्भाव हो सका है। वाजपेयीजी का यही समीक्षादर्श है। वे साहित्य की अंतरंग परीक्षा करने में विशेषतः कृतकार्य हुए हैं। उनकी साहित्य के मर्म की पहचान और उसके सौंदर्य की पकड़ खूब मजबूत है। वे रसग्राही

पाठक और सहृदय समीक्षक हैं। साहित्य के मूल तत्वों के आधार पर की गई समीक्षा का अपना महत्व है। वह बासी नहीं होती। इस क्षेत्र की उसकी कृतविद्यता को प्राथमिक आवश्यकता ही नहीं, सर्वोपरि विशेषता भी समझना चाहिए। आचार्य शुक्ल के विचारों से चाहे हम सहमत न हो पाएँ, पर उनका साहित्य-विवेचन विश्वसनीय ही माना जायगा। सूरदास के काव्य की समीक्षा या अंतरंग परीक्षा आज भी बेजोड़ है। अवश्य ही उनके निर्णय या सैद्धान्तिक निरूपण अमान्य हो सकते हैं और प्रायः है भी। बाजपेयीजी इसी प्रकार की साहित्यिक रसज्ञता को समीक्षा का मूलभूत तत्व मानते हैं। उन्होंने साहसपूर्वक साहित्य की स्वतंत्रता का उद्घोष भी किया है। स्पष्टतः उनकी समीक्षा का मान साहित्य है, मतवाद नहीं। साहित्य मानवीय अनुभूति या जीवनानुभूति है और मतवाद जीवन-विषयक सिद्धांत। बाजपेयीजी की समीक्षा में वे तभी स्वीकृत होंगे, जब साहित्य के माध्यम से वे आएँ अर्थात् जीवन-दर्शन के रूप में अभिव्यक्त हों। साहित्य के अंतर्गत वे स्वतंत्र निरूपण नहीं हैं। वह साहित्यिक मानों से की गई-साहित्य की समीक्षा है। यह दृष्टि इस अर्थ में ग्राह्य है कि जिस भाँति जीवन के सिद्धान्त जीवन पर आधारित ही नहीं, उसी से अनुस्यूत भी अवश्य हों, उसी भाँति समीक्षा के सिद्धान्त साहित्य पर अवलम्बित ही न हों, उनको उसी से उद्भूत भी होना चाहिए। इस विचारणा की यह उपलब्धि है कि समीक्षा निगमनात्मक होने के कारण अधिक यथातथ्य ज्ञात होती है, पर यह सीमा है कि समीक्षक की रस-संवेदना यदि अपरिपक्व हुई अथवा वह कतिपय पूर्वाग्रहों से ग्रस्त रही तो समीक्षा दिग्भ्रान्त हो सकती है। वह वैयक्तिक होगी अवश्य पर वस्तुनिष्ठ भी इसी कारण बनी रहेगी। यदि उसके कतिपय सुस्थिर और विकासमान साहित्य-सिद्धांत हों तो वह अधिकांशतः प्रामाणित समझी जाएगी।

बाजपेयी जी का साहित्यिक विवेक उनकी संस्कारिता से व्युत्पन्न तथा विद्वत्ता से चमत्कृत है। इसी कारण उनकी समीक्षा-दृष्टि स्वच्छ और तीक्ष्ण है। उनके सैद्धान्तिक विचारों की अपेक्षा उनका काव्यालोचन कहीं अधिक तलस्पर्शी और स्थायी है। उनकी स्थापनाएँ भी प्रायः उनके साहित्य-विवेचन के माध्यम से ही आई हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा-के निबंध नए चिंतन के उदाहरण हैं, पर वे अधिक नहीं हैं। उनका कार्य प्रायः सूत्र-पद्धति को अपनाकर अग्रसर हुआ है, अतएव उसमें इंगित अधिक हैं और व्याख्याएँ कम। पर वह आद्यंत व्यक्तिवादी जीवन-चेतना का परिणाम है। अवश्य ही यह व्यक्ति-निष्ठता जीवन की प्रबुद्ध चेतना है, असामाजिकता, एकांगिता या वैचारिक असंतुलन नहीं। बाजपेयी जी ने अपनी सुरुचि, संवेदना-क्षमता और साहित्यिक संस्कारों को सैद्धान्तिक पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है। अवश्य ही ये सिद्धान्त प्रत्यक्ष जीवन और उपलब्ध साहित्य से गृहीत हुए हैं, किसी साहित्येतर शास्त्र, विज्ञान या अध्यात्म विद्या से नहीं। बाजपेयीजी के समीक्षा-कार्य को इन्हीं सिद्धान्तों ने व्यापकता प्रदान की है और वे शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा को नई विकास-स्थितियों की ओर अग्रसर कर सके हैं। उनके विचार नये समीक्षा-शास्त्र की पीठिका प्रस्तुत कर पाए हैं। इस क्षेत्र में उनके कार्य की अभी अशेष संभावनाएँ हैं।

वाजपेयी जी मुख्यतः छायावादी समीक्षक हैं, उन्होंने बड़े प्रयत्न और साहस के साथ अपनी विचार-भूमियों का निरंतर क्षेत्र-विस्तार किया है। अतः वे विकासशील रहे हैं। उन्होंने छायावादी समीक्षा की सीमाओं को पहचाना है और इसी कारण वे अपने विचारों को सैद्धान्तिक आधार, वस्तु-निष्ठ स्वरूप और सामाजिक आशय भी अधिकाधिक देते गये हैं। उनका आरंभिक कार्य ऐतिहासिक महत्व की वस्तु है। अतएव उसमें नव वय का उत्साह और स्वच्छन्दता का ओज अधिक है। वहां वे शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि के आलोचक दिखाई पड़ते हैं और इसी कारण उनका कार्य नव्य प्रवर्तन ज्ञात होने लगता है। कालांतर में वे पश्चिमी सौंदर्य-शास्त्र और भारतीय अलंकार-शास्त्र के सिद्धान्तों को अधिक समन्वित रूप में व्यवहृत कर पाए हैं। वे अपनी प्रौढ़ि में हिन्दी समीक्षा को एक विशेष प्रकार की पूर्णता देने के लिये यत्नशील दिखाई पड़ते हैं।

वाजपेयी जी अनुभूति की सामाजिक संवेदन-क्षमता का आग्रह करते हैं और नगेंद्र जी उसकी अंतरंग परीक्षा पर बल देते हैं। वाजपेयीजी आदर्श और नीति के उत्तरवर्ती सीमांत पर हैं और नगेन्द्रजी व्यक्ति और उसकी वास्तविकता के पूर्ववर्ती छोर पर। एक पर अध्यात्म की छाया विद्यमान है, दूसरे पर वैज्ञानिक अंतः प्रकाश की दीप्ति प्रत्यक्ष। दोनों ही शास्त्र-निष्णात हैं, साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक हैं और छायावाद-युग की सृष्टि हैं। वाजपेयीजी का व्यक्तिवाद वहिर्मुख अधिक है, नगेन्द्रजी का व्यक्तिवाद अंतर्मुख अधिक। दोनों का विवेचन प्रामाणिक और निर्भ्रान्ति-प्राय है। वाजपेयी जी नव्यता और विशेषतः पश्चिमी सौंदर्य-शास्त्र की ओर जितने आकृष्ट हैं, नगेन्द्र जी परंपरा और विशेषतः भारतीय काव्य-शास्त्र की ओर उतने ही उन्मुख। यहां रुचि की प्रमुखता लक्षित हुई है, क्योंकि परंपरा और नव्यता तथा पश्चिमी और भारतीय समीक्षा-शास्त्र को दोनों ने ही अंशतः अपनाया है। वाजपेयी जी के चिंतन में स्वच्छन्दता अधिक है, नगेन्द्रजी के विचारों में शास्त्रानुगमन की प्रवृत्ति अधिक। दोनों को समीक्षा की शास्त्रीय परंपरा का विकास काम्य है, पर एक को मानवीय आधार पर और दूसरे को वैज्ञानिक भित्ति पर। हिन्दी समीक्षा के नव्य विकास में दोनों का महत्वपूर्ण प्रदेय है। पर यह अंतर दृष्टव्य है कि वाजपेयीजी छायावाद की आदर्शोन्मुख प्रवृत्तियों को लिए हुए हैं और नगेन्द्रजी उसकी यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों को। साहित्य के परीक्षण कार्य में वाजपेयीजी 'उत्थान' और 'उत्कर्ष' पर मुग्ध होते हैं, नगेन्द्रजी भी इसी कार्य के माध्यम से 'गरिमा' और 'औदात्त्य' का महत्व स्पष्ट करते हैं। अतएव उक्त दोनों आचार्यों में एक ही युग की सृष्टि होने के कारण साम्य के सूत्र ही अधिक हैं। पर वे दो भिन्न दर्शकों के निर्माण हैं, अतएव वैचारिक विभेद भी स्वभावतः होना ही चाहिए और वह है। दोनों में अन्तर मूल तत्वों का कम है, चिन्तन-प्रवृत्ति का अधिक है। यहाँ यह तुलना इस अभिप्राय से की गई है कि छायावादी समीक्षा को पूर्णतया समझा जा सके। दोनों आचार्यों ने शुक्लजी के समीक्षा-कार्य का विकास किया है। नगेन्द्रजी परवर्ती आलोचक हैं, अतएव इस समीक्षा की कमियों के प्रति वे अधिक अवधानता बरत पाये हैं। उनके कथन इसी कारण प्रमाण-निबद्ध

अधिक है। वाजपेयी जी नव्यताकांक्षी रहे हैं, अतएव अपने चिन्तन और समीक्षण का वे निरंतर परिष्कार करते रहे हैं। वाजपेयीजी साहित्य की समसामयिक गतिविधि के प्रति अनवरत रूप से पूर्ण सजग रहते आए हैं। उनकी विकासशील साहित्यिक चेतना का यही प्रमुख कारण है। वाजपेयीजी छायावादी समीक्षक हैं अवश्य, पर इसका अभिप्राय क्या है? इसके अंतर्गत उनकी स्थिति, प्रवृत्ति और उपलब्धि क्या है? उनकी सीमा और विशेषता कहाँ है? यही निर्देश करने के लिए ये तुलनात्मक संकेत रक्खे गए हैं। पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों के कार्य और विचार में स्वभावतः अंतर होना चाहिए और वही यहाँ लक्षित हुआ है। किसी को बड़ा या छोटा बताना मेरा उद्देश्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि 'मोर कहब सब भाँति भदेसू'।

: २ :

वाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि के तत्वों का निरीक्षण करने के पूर्व यह उपादेय जान पड़ता है कि उसकी विविध अंगभूत धारणाओं या विचार-सरणियों का विवरण दे दिया जाय। वाजपेयीजी को सामान्यतः रसवादी आचार्य माना जाता है, पर वे रूढ़ अर्थ में रसवादी नहीं हैं। रस की आस्वाद्यता तथा सौंदर्य की संवेदना को वे पृथक् वस्तु नहीं मानते। उन्होंने काव्य के रस और कला के सौंदर्य को प्रायः एक ही भूमिका पर स्वच्छन्द रूप में उपस्थित किया है। आशय यह है कि सौंदर्य-संवेदना का आह्लाद और रसास्वादन का आनन्द उनके निकट विरोधी या विजातीय तत्व नहीं हैं। वे आत्मानुभूति को साहित्य का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। उसके स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने रस-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का आधार ग्रहण किया है। वाजपेयीजी रस-सिद्धान्त के अनुसार यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि साहित्य-मात्र के मूल में अनुभूति या भावना कार्य करती है। स्रष्टा की अनुभूति से रहित काव्य-सृष्टि हो ही नहीं सकती, यह कहते हुए वे ध्वनि-सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं। आशय यह है कि साहित्य की विविधता के अंतर्गत एकात्म्य स्थापित करने वाली शक्ति आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही है। यही कवि-कर्म की मूल प्रवृत्ति है। वे क्रोचे के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति में कोई अंतर नहीं है। अनुभूति आत्मिक व्यापार का परिणाम है, जिसे सौंदर्य-रूप में अभिव्यक्त होना पड़ता है। अतएव अनुभूति, अभिव्यक्ति और काव्य समानार्थी हैं, इनमें पूर्ण तादात्म्य है। वे अनुभूति के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि "क्रोचे के निरूपण के अनुसार अनुभूति का समरस या समरूप होना अनिवार्य है। एक ही अखंड अनुभूति समस्त कवियों और रचनाकारों में होती है। काव्य-मात्र में उसकी अखंडता स्वयंसिद्ध है।" उनकी मान्यता है कि "काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नहीं जानती।" आशय यह है कि काव्य और कला की विषय-वस्तु अनुभूति है। उसका प्रकृत स्वरूप देश-काल परिबद्ध नहीं है। रस-सिद्धांत

के आधार पर भी वे यही सिद्ध करने के लिए सचेष्ट हैं। उनका कथन है कि "समस्त काव्य-शैलियों और काव्य-स्वरूपों में अनुभूति की अखंड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयों ने काव्यकी सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध कीथी।" वे आत्मानुभूति को काव्यमात्र की विशेषता मानते हुए काव्य के व्यक्तिगत और वस्तुगत भेदों को ही अस्वीकार नहीं करते, बल्कि रस-भेद और काव्य-रूप के भेदों को भी तत्वतः सारहीन समझते हैं। कलाकार की रुचि और योग्यता के अनुसार वास्तविक अनुभूति भिन्न-भिन्न माध्यमों का उपयोग करती अवश्य है, पर "एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होने वाली अनुभूति के संबंध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है।" वाजपेयी जी मानते हैं कि "आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक ही होगी।" उपर्युक्त विवरण इस अभिप्राय को स्पष्ट करता है कि वाजपेयी जी आधुनिक साहित्य के कृतविद्य आचार्य हैं; वे एकांततः रसवादी समीक्षक नहीं हैं।

उन्होंने रस मत और क्रोचे के कला-सिद्धांत को एक-दूसरे के समकक्ष रखा है। इसके दो कारण हैं। प्रथमतः ये दोनों सिद्धान्त आत्मवादी दर्शन के परिणाम हैं। अतएव इन्हें एक साथ देखा-परखा जा सकता है। दूसरा कारण यह है कि छायावाद युग का साहित्य प्राचीन अलंकार-शास्त्र के सिद्धांत-वाद के प्रति एक प्रकार का उपेक्षा भाव रखता आया है। उस पर पश्चिमी सौंदर्य-शास्त्र की मान्यताओं का प्रभाव मौजूद है। बाजपेयी जी भी इसी चेतना से अनुप्राणित हैं। अतएव वे रस-सिद्धांत को स्वच्छंदतापूर्वक ग्रहण करते हैं। उनके यहाँ आकर उसका मतवादी स्वरूप और उसकी वैचारिक रूढ़ियाँ महत्व-हीन हो जाती हैं। वे एक नया तात्विक सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं, जिसके आधार पर सौंदर्य-संवेदन और रसास्वादन की एक ही कोटि दिखाई पड़ती है। यह कार्य इसलिए संपन्न हो पाया, क्योंकि रचना-प्रक्रिया और आस्वद्यता के दोनों छोरों को एक साथ देख लेना भी आवश्यक समझा गया। आत्मवादी दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण काव्य का उद्गम और आस्वादन एक ही विभावन-व्यापार की भिन्न स्थितियां मात्र ज्ञात हुआ। अतएव काव्य और कला में तात्विक अंतर ही नहीं रह गया। अनुभूति और अभिव्यक्ति में भी कोई विभेद नहीं माना गया। अस्तु रस और सौंदर्य या अनुभूति और सौष्ठव तत्वतः एक ही वस्तु समझे गए। वाजपेयी जी रसवादी हैं अवश्य, पर वे कलावादी भी हैं। उन्होंने रस-सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद को एक-दूसरे के पूरक या सहायक के रूप में ग्रहण किया है। वे रस-सिद्धान्त और ध्वनि-सिद्धान्त को आधार बनाकर पश्चिमी चिन्तन को अपनाने की नवीन साहित्यिक आवश्यकता का प्रतिपादन भी करते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि बाजपेयी जी उपर्युक्त सिद्धांतों को तत्ववाद के रूप में ग्रहण करते हैं, उनके अवयवों के या वैचारिक ऊहापोहों के फेर में वे नहीं पड़ते।

कविता क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बाजपेयी जी कहते हैं कि "काव्य तो प्रकृत मानव-अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौंदर्यमय चित्रण है, जो

मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौंदर्य-संवेदन उत्पन्न करता है।" यहाँ वाजपेयीजी 'रस' की सत्ता का निर्देश ही नहीं करते है, बल्कि वे 'सौंदर्य-संवेदन' के द्वारा काव्य-कृति को कला के रूप में संकेतित भी करते हैं। उन्होंने शुक्लजी की रस-दृष्टि में संवेदना-पक्ष या आस्वादन-क्षमता की न्यूनता अनुभव की है और उसी को यहाँ प्रधान माना है। अवश्य ही वे रसावयवों को एकान्तिक महत्व नहीं देते। उन्हें काव्य-वस्तु की अपेक्षा काव्यानुभूति अधिक महत्वपूर्ण ज्ञात हुई है।

उनका दृष्टिकोण शास्त्र-निबद्ध नहीं है, स्वच्छन्द है, और उसमें मानवीय पक्ष को ही प्रधानता दी गई है। इसी कारण वे कह सके हैं कि "काव्य का वास्तविक सौंदर्य कवि के काव्योत्कर्ष की भावात्मक परीक्षा में निहित है।" यह भावात्मक परीक्षा शुक्लजी के लोकवाद से भिन्न आत्मपरक भूमि पर प्रतिष्ठित हुई, पर इसमें मानव-निष्ठा की प्रधानता होने के कारण वह मनोजगत् को आधार बनाकर अग्रसर हुई। अतएव वह किसी आध्यात्मिक या दार्शनिक परिपाटी का अनुवर्तन नहीं बन पाई। वाजपेयीजी ने प्रसादजी को मानवीय अनुभूतियों का कवि कहा है और उनकी इसी कारण आशंसा की है।

वाजपेयी जी ने अभिव्यंजनावाद की सीमा का निर्देश इस प्रकार किया है—"काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौंदर्य अभिव्यंजना का ही सौदर्य नहीं है, अभिव्यंजना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्व है। उसका सीधा संबंध मानव-जगत् और मानव-वृत्तियों से है, जबकि अभिव्यंजना का संबंध केवल सौंदर्य-प्रकाशन से है।" अभिव्यंजना का अनावश्यक महत्व उन्हें अमान्य है। यहाँ मात्र प्रसाधन-प्रियता का विरोध किया गया है। उन्होंने अलंकार-प्रियता को काव्योत्कर्ष में बाधक प्रवृत्ति माना है। अनुभूति और अभिव्यक्ति को पूर्णतः तद्रूप या एकान्वित करके ही कविता अपने उच्चतर स्तर को प्राप्त कर पाती है। अतएव वाजपेयीजी अभिव्यंजनावादी समीक्षक सिद्ध नहीं हो पाते। उन्हें इसी कारण सौष्ठववादी आलोचक कहा जाता है क्योंकि "अनुभूति की तीव्रता और हृदयस्पर्शिता से सामंजस्य रखने वाली अभिव्यक्ति उन्हें मान्य है।"

वाजपेयी जी ने द्विवेदी-युगीन उपयोगिता के सिद्धान्त का ही नहीं, परवर्ती साहित्येतर प्रयोजनों और मतवादों का भी विरोध किया है। वे काव्य की रसवत्ता या उसके सौंदर्य की अंतरंग परीक्षा को समीक्षक का मूल कार्य समझते हैं। उनका कथन है कि "किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक या साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर कला की परीक्षा नहीं की जा सकती। सिद्धांत सीमित है, कला की कोई सीमा नहीं है। उसे किसी भी बंधन में नहीं बाँधा जा सकता। केवल सौंदर्य ही उसकी सीमा या बंधन है, परन्तु सौंदर्य की परख के कोई निश्चित आधार नहीं बतलाए जा सकते।" वाजपेयी जी साहित्य-समीक्षा का आधार कला-कृति के अन्तर्गत ही मानते हैं। वे जिस भाँति अभिव्यंजना के सिद्धान्त को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं करते, उसी भाँति वे मात्र सौंदर्य या अनुभूति को ही एकान्तिक

महत्व नहीं देते। उन्हें सौंदर्यवादी समीक्षक इसी कारण नहीं कहा जा सकेगा। वे आदर्शवादी समीक्षक हैं और मानवता तथा नैतिकता को महत्वपूर्ण वस्तु मानते रहे हैं। बाजपेयीजी को शुक्लजी का न नीतिवादी दृष्टिकोण मान्य है और न उनका मर्यादावादी आदर्शवाद स्वीकृत। इसी प्रकार उन्हें व्यक्तिवादी नीति-निरपेक्षता और बुद्धिवादी वैयक्तिक आदर्श भी अमान्य हैं। वे समाजनिष्ठ मानवतादर्श और जीवन-विकास की सहयोगिनी नैतिकता को काम्य मानते हैं। पर यह सब साहित्य पर आरोपित नहीं हो सकता, वह रचनाकार की जीवन-दृष्टि के रूप में साहित्य की अंतरंग वस्तु ही बन पाता है। वे मानव अनुभूतियों को महत्वपूर्ण मानते रहे हैं, अतएव सौंदर्य की निरपेक्ष सत्ता को उन्होंने कहीं तरह नहीं दी। वे कला को जीवन-सापेक्ष मानते हैं, अतएव वे कलावादी नहीं हैं। बाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि में पश्चिमी समीक्षा-सिद्धांत स्वच्छंदतापूर्वक गृहीत अवश्य हुए हैं, पर उनमें से किसी को भी उन्होंने समग्ररूप में और पूर्णतः स्वीकार नहीं किया अर्थात् उसका अनुसरण नहीं किया।

बाजपेयी जी की समीक्षा में मानववादी चेतना परिव्याप्त है। वे एकांतिक वैयक्तिकता के विरोधी हैं, क्योंकि उसके द्वारा जीवन-विकास की सभी संभावनाएं विरुद्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार वे समाजवादी साहित्य-प्रक्रिया को सदोष पाते हैं, क्योंकि वहाँ व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वाजपेयीजी व्यक्ति और समाज की एकांगी विचार-पद्धतियों को अपूर्ण समझते हैं। मानव-दर्शन के द्वारा इन दोनों में सुदृढ़ पारस्परिक संबंध स्थापित हो पाता है। मानव का अन्तर-बाह्य विशिष्ट काव्य-वस्तु होकर भी सामाजिक अनुभूतियों का आशय लिए हुए है। मैं यह नहीं कहूँगा कि छायावादी समीक्षा का यह मूलभूत आशय है, पर अवश्य ही उसे कालांतर में ग्रहण किया जा सका है। बाजपेयी जी ने प्रगतिशील साहित्य के जिन तीन प्रधान सूत्रों का उल्लेख किया है, यथा "जीवन-आस्था, परिवर्तन की पहचान और उपचार तथा कलात्मक स्वरूप का नियोजन", उसके मूल में इसी मानववादी विचार-धारा की सक्रियता दिखाई पड़ती है। बाजपेयीजी का प्रगतिशील साहित्य-विषयक दृष्टिकोण उनकी जीवंत साहित्य की धारणा का परिचायक है। यहाँ किसी मतवादी धारणा को प्रकट नहीं किया गया। अवश्य ही वाजपेयीजी का दृष्टिकोण क्रमशः समाजोन्मुख हुआ और उसमें जीवन-विकास के उत्कर्षापकर्ष-संबंधी विवेक का समावेश हो सका। इसे उनके छायावादी समीक्षा-सिद्धांत का विकास समझना चाहिए। आरम्भ में छायावादी कविता के अंतर्गत जिन राष्ट्रीय और सांस्कृतिक तत्वों का बाजपेयीजी ने इंगित किया था, मानवास्था विषयक इस चिंतन में उसी की युगानुरूप नई परिणति हो सकी है।

बाजपेयीजी ने मानवता के साथ रस का संबंध भी स्थापित किया है। जीवन के कतिपय स्थायी तत्व या मूलभूत तथ्य होते हैं। युग बदलता है, समाज बदलता है और जीवन की परिस्थितियाँ निरंतर परिवर्तित होती रहती हैं, पर मानव मूलतः वही रहा

करता है। प्राण-चेतना की भांति उसकी अनुभूतिशीलता या संवेदन-क्षमता यथावत् स्थिर रहती है। जीवन के इसी मूल तथ्य के आधार पर काव्य का श्रेष्ठत्व परीक्षित हो पाता है। मानव के स्थायी मूल्य या मान को ही मानववाद की संज्ञा दी जाती है। बाजपेयी जी रस को इस अर्थ में काव्य की आत्मा मानते हैं कि "प्रत्येक काव्य में यदि वस्तुतः काव्य है, मानव-समाज के लिए आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। रस शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इसी मानववादी सत्ता से है।" छायावाद के मूल में अस्पष्टरूपेण मानववादी विचार-तत्व अंतर्निहित रहा है। बाजपेयीजी उसी को उत्कर्षित करते हुए अपने समीक्षा-दर्शन को परिपूर्ण बनाने का प्रयास करते हैं। उन्हें शेक्सपीयर, टालस्टाय, कालिदास, आदि ने अपनी इसी मानववादी भाव-चेतना के कारण आकर्षित किया है।

रस का अनुभूति से सीधा संबंध है। अतएव बाजपेयी जी उसे काव्य का मूलभूत अंतर्वर्ती तत्व मानते हैं। यह कहकर कि "रसानुभूति-संबंधी अलौकिकता के पाखंड से काव्य का अनिष्ट ही हुआ है," उसके लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानंद सहोदरत्व से वे एकदम अपनी असहमति विज्ञापित करते हैं। बाजपेयी जी ने आत्मवादी दर्शन से प्रेरणा अवश्य ग्रहण की है और वे छायावाद, रहस्यवाद, कला-सिद्धांत और रस-मत को कदाचित् इसी कारण ग्रहण कर सके हैं, पर उन्होंने कहीं भी मानवीय पीठिका का परित्याग नहीं किया। उन्होंने कोरी आध्यात्मिकता को असामाजिक वस्तु ही नहीं, बहुत कुछ काव्योत्कर्ष का बाधक तत्व भी समझा। इसी कारण महादेवी जी के काव्य की एकांगिता को उन्होंने कला-सीमा ही माना, विशेषता नहीं। वे अध्यात्म या दर्शन को अनुभूतियों की सामाजिक स्थिति की सापेक्षता में ही ग्रहण कर सके हैं। उन्होंने अपने समग्र समीक्षा-कार्य में जीवन की वास्तविकता और मानव की सहज स्वाभाविकता को ही साहित्य की स्तरीय वस्तु माना है। वे मानवीय उत्थान या आदर्श अनुभूति के उत्कर्ष या उन्मेष की विवेचना अवश्य करते हैं, पर जीवन की असाधारणता, मानवीय कृत्रिमता, समाज-निरपेक्ष वैयक्तिकता, असाधारण आध्यात्मिकता या व्यक्ति निरपेक्ष सामाजिक समानता अथवा सामूहिकता का कहीं समर्थन नहीं करते। सरल सात्विक भावनाएँ, सुष्ठु कल्पनाएँ, स्वाभाविक जीवन, चारित्रिक और प्राकृतिक सौंदर्य, आदि की उन्हें सदैव अपेक्षा रही। उनकी रस-विषयक व्याख्या मानववादी धारणा से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। वे मन की वस्तुस्थिति और स्वाभाविक प्रक्रिया से रस को संबद्ध कर देते हैं। अवश्य ही वह मन का संस्कारक भी ज्ञात होता है। उन्होंने अपने रस-विवेचन में मनोवैज्ञानिक अथवा समाज-शास्त्रीय मान्यताओं की कहीं अतिरिक्त सहायता नहीं ली। वे रस के मानसिक पक्ष और सामाजिक प्रभाव की चर्चा अवश्य करते हैं, पर वह क्रमशः वैयक्तिक अनुभूति और साहित्य का सामाजिक आस्वादन या संवेदन ही है। उसे उन्होंने मनःप्रक्रिया या सामूहिक भाव-चेतना से संबंधित ज्ञान-विज्ञान से संयुक्त नहीं किया। वे वस्तुतः यथार्थवादी समीक्षक हैं ही नहीं। उन्होंने

यथार्थवाद की सीमाओं का बड़े आत्म-विश्वास के साथ निर्वचन और निरसन किया है। वे स्वच्छंद प्रवृत्तियों के आदर्शवादी समीक्षक हैं। अवश्य ही यह आदर्शवाद स्थूल, व्यक्त या प्रत्यक्ष वस्तु नहीं है। इसे नवयुग की सांस्कृतिक चेतना का परिणाम और कलागत सौंदर्य-बोध का पर्याय समझना चाहिए। मैं इसे आदर्शनिष्ठ मानवतावाद से भिन्न कोटि के विकासशील मानववाद से संबद्ध मानता हूँ। वाजपेयीजी ने अपने साधारणीकरण संबंधी विवेचन में इसी दृष्टि का परिचय दिया है। पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों से यहीं उनका विभेद है।

वाजपेयीजी ने आनन्द या आह्लाद के स्वरूप को कहीं स्पष्ट नहीं किया। पर वह बहुत कुछ तल्लीनता, तन्मयता या तद्वत् अनुभूति-संवेदन का पर्याय ही है। साहित्य और ललित कलाओं की सर्जना में एक जैसी मानसिक प्रक्रिया की स्थिति मान लेने के कारण उनके संप्रेषण और संवेदन में स्वभावतः अभेद ज्ञात होने लगता है। वाजपेयी जी ने इसी कारण शैली को पृथक वस्तु नहीं माना। वे अनुभूति के साथ उसका नित्य संबंध मानते हैं। अतएव कला पक्ष जैसी कोई पृथक् वस्तु नहीं। वह तो भाव-पक्ष का ही व्यक्त किंतु अविच्छिन्न स्वरूप है। इस विचार-पद्धति का यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि शुक्लजी की भांति रस की स्थिति आलंबनत्व-धर्म में ही परिमित नहीं रह पाई, उसे समग्र कवि-कर्म में सन्निहित माना गया। यह कथन द्रष्टव्य है कि "साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है। केवल किसी पात्र विशेष का नहीं।" छायावादी काव्य की समीक्षा में यही दृष्टि प्रमुख रही, अन्यथा रूढ़ अर्थ में उसके कवि-कर्म को रसात्मक नहीं कहा जा सकता था। यहाँ रस काव्य की रसमयता या रसवत्ता का समकक्ष समझा गया और कवि-कल्पना रचना-प्रक्रिया का मूलभूत तत्व स्वीकृत हुई। स्पष्टतः अब अनुभूति-व्यंजना ही रस-निष्पत्ति मानी गई। यहां रस ध्वनि को रूढ़ि के आधार पर नहीं, स्वच्छंदतावादी विचारणा के परिणाम-स्वरूप ग्रहण किया गया, जिसमें रस के अवयवों के स्थान पर समस्त कवि-व्यापार की महत्ता निर्धारित हुई। नगेंद्र जी ने भी कवि की अनुभूति का ही साधारणीकरण स्वीकार किया है, पर उनके इस निष्कर्ष की उपलब्धि के कारण भिन्न हैं। वे आत्माभिव्यक्ति को काव्य की मूल प्रेरणा मानते हैं, जो स्वयं आनन्द का कारण भी होती है। वाजपेयीजी की दृष्टि में सौंदर्यानुभूति या अनुभूति-सौंदर्य ही काव्य या कला का मूल तत्व है, पर नगेंद्र जी की विचारणा में अनुभूति के वास्तविक स्वरूप या उसकी मनोवैज्ञानिक असलियत को ही वह स्थान संप्राप्त है। इस अंतर को युग-चेतना के विकास-क्रम के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। नगेंद्रजी ने इसी कारण शास्त्रीय प्रामाणिकता तथा वैज्ञानिक वस्तुमत्ता को अपने साहित्य-चिंतन में अंतर्भुक्त किया है और वाजपेयीजी ने अपने समीक्षा कार्य में मुख्यतः आत्मवादी चेतना का आंतरिक संगठन किया है। फलतः अनुभूति का तात्विक स्वरूप और उसी का स्वाभाविक सौंदर्य क्रमशः नगेंद्रजी और वाजपेयीजी

की दृष्टि में साहित्य का मूलतत्व बन जाता है। बाजपेयीजी इसी कारण जितने आदर्शोन्मुख हैं, नगेंद्र जी उतने ही यथार्थोन्मुख। पर छायावादी साहित्य-चिंतन की परिधि में ही दोनों ने अपना-अपना स्वतंत्र विकास किया है।

बाजपेयीजी ने रस को उदात्त नैतिक चेतना से संवद्ध अनुभव किया है। यह जीवनोत्कर्ष-विधायिनी वह प्रवृत्ति है, जो स्थूल आदर्श और रूढ़ि-बद्ध नैतिकता या परंपरित मर्यादा के रीति-नियम से स्वछंद होकर अग्रसर होती है। वह विधि-निषेध नहीं है, उन्नयन-मूलक भाव-चेतना मात्र है। जीवन-सौंदर्य की नियामक भी संभवतः वही है। अनुभूति को प्रधानता देने के कारण वे साहित्य में बुद्धिवाद के अतिरिक्त महत्व को स्वीकार नहीं कर पाते। उनका मंतव्य है कि "साहित्य, बुद्धि, दर्शन, नीति, विज्ञान, सबको रसमय बनाकर उपस्थित करता है।" वह सहायक तत्व है, साहित्य का मूलतत्व नहीं। उन्होंने साहित्य की ह्रासशील प्रवृत्तियों का विरोध किया है और विकासशील प्रवृत्तियों का संवर्द्धन। स्पष्टतः जीवन-विषयक आस्था, विकास या आशा उनकी नैतिक चेतना का ही परिणाम है। बाजपेयीजी का मत है कि "श्रेष्ठ काव्य का नैसर्गिक या प्रतिभा तत्व भावात्मक होता है। उसका स्थायी तत्व है समाज की नैतिक चेतना और उसका गतिमान तत्व है कवि की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक अभिज्ञता। कहने की आवश्यकता नहीं, ये तीनों तत्व गहरे अनुभवों या अनुभूतियों पर आश्रित हैं और इन गहरे अनुभवों का संबंध सामाजिक जीवन के स्थितिशील और गतिशील तत्वों के दुहरे रूपों से है। ऊपर से न दिखाई देने पर भी कवि की निगूढ़ चेतना में इन तीनों तत्वों का समावेश रहता है।" प्रसंगतः यही उपर्युक्त विवेचन का संक्षेप है।

बाजपेयीजी अपनी छायावादी दृष्टि को अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ, सामाजिक तथा परिपूर्ण बनाने के लिए यत्नशील रहे हैं। उन्होंने अनुभूति को नैतिक चेतना से संवद्ध किया है और वैयक्तिक अनुभवों को सामाजिक आशय दिया है। प्रयोगात्मक आलोचना के अंतर्गत् उन्हें वस्तुमुखी विवेचन, ऐतिहासिक निरूपण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और समाजशास्त्रीय विवरण साहित्य के रस-संवेदन अथवा सौंदर्य-संप्रेषण के स्पष्टीकरण के लिए उपादेय ज्ञात हुए हैं। यह उनकी संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति है, जो समीक्षा को अधिकाधिक प्रामाणिक स्वरूप देना चाहती है। उन्होंने एकांगी विचार-पद्धतियों का विरोध किया है। पर इस दृष्टि की यह सीमा है कि यहाँ व्यक्तिगत रुचि, प्रवृत्ति और निर्णय का अंतर्भाव भी होता है। वस्तुतः साहित्य की भावात्मक परीक्षा को वस्तुनिष्ठ बनाने का यह सक्षम उपक्रम है।

बाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिपार्श्वों को स्वीकार करके विकसित हुई है। वह ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति को अपनाकर सांस्कृतिक

परिणतियों, दार्शनिक मान्यताओं और राष्ट्रीय विशेषताओं का यह आकलन करती चलती है। आशय यह है कि वाजपेयीजी समीक्षा के अंतर्गत् व्यापक जीवन दृष्टि और नई बौद्धिक उपलब्धियों को अंगीकृत करते रहे हैं। उन्होंने अपनी स्वच्छंदतावादी जीवन-दृष्टि को क्रमशः परिष्कृत, समुन्नत और समृद्ध बनाया है। अवश्य ही उसका मूल स्वरूप नहीं बदल पाया है। यह पूछा जा सकता है कि क्या यही परिपूर्ण विचारणा है अथवा स्वच्छंद दृष्टिकोण की सैद्धांतिक पूर्णता है? स्वच्छंद और व्यक्तिनिष्ठ साहित्य-संवेदन ही क्या साहित्य की मूलभूत कसौटी है? क्या यही साहित्य का अपरिवर्तनीय तत्त्व है? वाजपेयीजी ने अपने आदर्शोन्मुख स्वच्छंद साहित्य-सिद्धांत को निरंतर पुष्ट और विकसित किया है। उसका स्थायी रूप में जो भी ऐतिहासिक मूल्य हो, पर वह प्राणवान्, युग-सापेक्ष और विकासशील धारणा अवश्य है। मानववाद को अपनाने के कारण वह व्यापक बन सकी है, पर वही अनेक सिद्धान्तों को अस्वीकृत करके ही सम्मुख आ पाई है। अतएव उसकी सीमाएँ ये ही हैं, जो किसी भी पूर्णत्व-कामी मानव की होती हैं। वह दिक्काल-परिबद्ध है और उसके समस्त चिंतन का सापेक्षिक महत्व ही तो है। यह आरोप किया ही गया है कि यह समीक्षा-सिद्धांत यथार्थवादी साहित्य का सहानुभूतिपूर्वक विवेचन करने में अकृतकार्य रहा है। यह तथ्य स्वीकार कर लेना चाहिए कि नए साहित्य का सीमा-निर्देश तथा उसके अभाव और दोष के संकेत इसके द्वारा प्रामाणिक रूप से विवेचित हुए हैं, पर उसकी अनुकूल तथा अनुरूप समीक्षा इसके द्वारा संभव नहीं हुई। इसका कारण है साहित्य के दृष्टिकोण का अंतर। बाजपेयीजी ने छायावाद-युग की सहृदयता-पूर्वक समीक्षा की है, पर परवर्ती साहित्य को उनकी सहृदयता का अल्पांश भी सुलभ नहीं हुआ। नए साहित्य का उनका विवेचन सैद्धान्तिक प्रामाणिकता तथा साहित्यिक मूल्यांकन का विशेषत्व लिए हुए है, पर वह नव्य-चेतना के साथ कहीं एकात्म नहीं हो पाया। आशय यह है कि बाजपेयीजी की समीक्षा-दृष्टि अतिशय प्रबुद्ध और बहुमुखी व्यापकता से एक ओर संपन्न हो उठी है, पर वही दूसरी ओर यथार्थ-निष्ठ नई साहित्य-चेतना से भिन्न-कोटि के कतिपय राष्ट्रीय सांस्कृतिक तत्वों को अपनाने लगी है। वाजपेयी जी का यह कथन वस्तुतः उनके ही समीक्षा कार्य पर टिप्पणी है, यथा—"छायावाद-युग में एक नए धरातल पर समीक्षा-दृष्टि का उन्नयन हुआ। कला की अधिक शुद्ध और सूक्ष्म चेतना, नीति परक दृष्टि के स्थान पर मानववादी दृष्टि का आग्रह, नियम के स्थान पर संवेदनशीलता का उत्कर्ष और काव्य-सौष्ठव के प्रति अधिक अभिरुचि, उसकी मुख्य विशेषताएँ थीं। इसके साथ ही हिंदी में अनेकमुखी वस्तुपरकता का आगमन भी हुआ। मनोविज्ञान, इतिहास और समाज-शास्त्र की नई शोधों का आकलन साहित्य-समीक्षा के धरातल पर किया गया। एक अधिक वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हुई और सांस्कृतिक भूमिका पर साहित्यिक मूल्यांकन की प्रवृत्ति दृढ़मूल हुई।" उपर्युक्त अवतरण का प्रथम वाक्य वाजपेयीजी का समीक्षा-सिद्धांत है और शेष तीनों वाक्य उसकी विकास-स्थिति की उपलब्धियों के परिचायक। बाजपेयीजी की आत्म-निरीक्षण की क्षमता अपूर्व है। यहाँ उन्होंने अपने सिद्धांत,

कार्य और पद्धति का सारांश ही प्रस्तुत कर दिया है। और यह सत्य है कि मुझे किसी भिन्न निष्कर्ष की उपलब्धि नहीं हुई।

: ३ :

बाजपेयी जी का अपने समीक्षा-सिद्धान्त के संबंध में जो स्पष्टीकरण या वक्तव्य है, उसे यहां सरसरी नजर से देख लेना उपयुक्त होगा। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' की 'विज्ञप्ति' में वाजपेयी जी ने साहित्य-समीक्षा-संबंधी अपनी प्रयास-दिशा का सप्त-सूत्री विवरण प्रस्तुत किया हैं। उनके समीक्षक की ये साहित्य-विषयक जिज्ञासाएँ हैं, जिनकी ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः प्रमुखता कम होती गई है। वे इस प्रकार हैं—

१. रचना में कवि की अंतर्वृतियों (मानसिक-उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन।
२. रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन ।
३. रीतियों और शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन।
४. समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।
५. कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर प्रभाव का अध्ययन। मानस विश्लेषण ।
६. कवि के दार्शनिक , सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।
७. काव्य के जीवन-संबंधी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन।

बाजपेयीजी की दृष्टि में इन सूत्रों में एक प्रकार की पूर्णता समाहित है। वे कवि के मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष के अध्ययन को प्राथमिक वस्तु समझते हैं। इसका यह आशय है कि कृति-विशेष में अभिव्यक्त कवि की अनुभूति-क्षमता का या उसकी अन्तर्वृत्तियों का परीक्षण समीक्षा का सर्वप्रधान कार्य है। यहां उनका अनुभूति-वाद प्रत्यक्ष हुआ है, जिसका स्पष्टीकरण 'साहित्य का प्रयोजन—आत्मानुभूति' शीर्षक निबंध के अन्तर्गत हो पाया है। बाजपेयीजी अनुभूति को अखंड मानते हैं, अतएव आत्मगत या वस्तुगत अथवा व्यक्ति-विषयक या सामाजिक, प्रभृति भेद औपचारिक या कृत्रिम सिद्ध होते हैं। इस आत्म-परक चिंतन का परित्याग करने पर बाजपेयीजी का अनुभूति सिद्धान्त निर्दोष नहीं रह पाता। अवश्य ही रसवादी परम्परा की दृष्टि से यह अभिनव क्रांति है, पर स्वयं बाजपेयीजी ने रस-सिद्धान्त के साथ अपने इसी मत का सामंजस्य ही स्थापित किया है। मानसिक उत्कर्षापकर्ष वाली बात साफ नहीं है। यहां संभवतः बाजपेयीजी अनुभूति को उदात्त नैतिक चेतना से संयुक्त करके उसकी प्राणवत्ता की विवेचना करना चाहते हैं। उनके विचार से अनुभूति-सौंदर्य, जीवनोत्थान और मानसिक उत्कर्ष में अभेद है, अतः ये पर्याय हैं।

दूसरा सूत्र कलात्मक सौष्ठव के अनुशीलन से संबद्ध है। वे इसी के साथ शिल्प या टेकनीक के अध्ययन पर बल देते हैं। प्रथम तीनों सूत्रों के आधार पर क्रमशः अनुभूति, अनुभूति और अभिव्यक्ति का एकान्वय अथवा सामंजस्य तथा कला-रूप और अभिव्यक्ति-कौशल का विवेचन संभव होता है। इस प्रकार साहित्य की समग्ररूपेण अन्तरंग परीक्षा की जा सकती है। पर यहां यह ध्यान देने की वस्तु है कि पहला सूत्र रस की रूढ़ियों का तिरस्कार करके भी उसे तत्वतः स्वीकार करता है तथा दूसरा सूत्र अनुभूति और अभिव्यक्ति के पूर्ण सामंजस्य पर बल देता है। इसे पश्चिमी कला-दर्शन की प्रेरणा से ग्रहण किया गया है, जिसे अपने यहां सौष्ठववाद कहा जा रहा है। तीसरा सूत्र रीति, शैली या कृति की बहिरंग परीक्षा से संबद्ध है। इसी को कला-पक्ष कहने की परिपाटी चल पड़ी है, पर बाजपेयीजी उसे तत्वतः अनुभूति से अपृथक ही मानते हैं।

चौथा सूत्र समय, समाज और उसकी प्रेरणाओं से संबंधित है। वस्तुतः यह युगबोध और सामाजिक चेतना की प्रेरणाओं का अध्ययन है। यहीं बाजपेयीजी अपने विचारों को क्रमशः राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिणति दे पाने में समर्थ हुए हैं। साहित्य यद्यपि शाश्वत वस्तु है, पर उसका निर्माण समाज-विशेष के अनुरूप और युग-विशेष की स्थिति में ही संभव होता है। वह अपने युग और समाज से निरंतर प्रेरित-प्रभावित होता रहता है। बाजपेयीजी ने ऐतिहासिक दृष्टि और समाज-शास्त्रीय निरूपण को कालान्तर में इसी आधार पर स्वीकार कर लिया है। कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसका प्रभाव पांचवा समीक्षा-सूत्र है, जिसके कारण मानसिक विश्लेषण संभव होता है। यह सूत्र कवि की विशिष्टता, प्रेरणा, विचारणा, मानसिक स्थिति तथा रचना-प्रवृत्ति आदि का विश्लेषण करने की आवश्यकता का परिज्ञान कराता है। बाजपेयीजी ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को समीक्षा का अंगभूत तत्व अवश्य माना है, पर चौथे सूत्र की भांति वे इसे एक विशेष मर्यादा के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं। चौथा सूत्र शास्त्र-सम्मत, किन्तु असाहित्यिक विवेचन करने में अथवा पांचवा सूत्र कवि के व्यक्तिगत जीवन को लेकर विषम भाव का प्रचार करने में भी अपनी सक्रियता दिखा सकता है। सम्भवतः इसी कारण इन्हें गौण स्थान दिया गया है। छठा सूत्र कवि के जीवन-दर्शन से संबंधित है, जिसके अन्तर्गत उसके दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों के अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की गई है। ये विचार जब कलाकृति के माध्यम से आएं तभी उपादेय हैं और अध्ययन के विषय भी; पर यदि इतर स्थानों से संकलित किए जाएं तो ये रचना को समझने में सहायक भर हो सकेंगे, साहित्यिक अध्ययन के स्वतंत्र विषय नहीं होंगे। सातवां सूत्र है—काव्य का जीवन-संबंधी सामंजस्य और संदेश। बाजपेयीजी कवि के जीवन-संदेश या जीवन-सामंजस्य के मंतव्यों के अध्ययन को नितांत महत्व-शून्य स्थान प्रदान करते हैं। यदि यह दृष्टि न हो तो उपदेश या उपादेय मंतव्यों को ही

काव्य की श्रेष्ठता का मानदंड माना जाए। वाजपेयीजी ने उपयोगितावाद, स्थूल आदर्शवाद तथा नीति और मर्यादा का विरोध इसी आधार पर किया था कि ये सभी साहित्येतर तत्व हैं, जिनका साहित्य के वास्तविक सौंदर्य से सीधा संबंध नहीं है। वास्तव में इसे कवि की जीवन-संबंधी अनुभूति-प्रक्रिया का ही परिणाम होना चाहिए, पर आरोपित वस्तु होकर यही काव्य के मूल चारुत्व को विनष्ट कर देता है।

स्वयं वाजपेयीजी ने इस सप्तसूत्री मान्यता का संक्षेप इस प्रकार किया है— "साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबंधों का प्रधान उद्देश्य रहा है, यद्यपि काव्य की सामयिक प्रेरणा के निरूपण में भी मैं उदासीन नहीं रहा हूं।" यही उनका समीक्षा-सिद्धान्त है। वे साहित्य का स्थायी और सांस्कृतिक मूल्य आंकने की दिशा में निरंतर सचेष्ट हुए हैं। उन्हें साहित्य-समीक्षा का प्रकृत पथ यही जान पड़ा, क्योंकि वह सभी मतवादों से परे था। निश्चय ही यह छायावादी समीक्षा-दर्शन है। वाजपेयीजी यहीं रसमत और कलावाद को एक-दूसरे के समीप उपस्थित करते हुए उन्हें मानव-जीवन से संबद्ध कर सके हैं। अतएव साहित्य की उनकी यह धारणा है कि अनुभूति की एकान्वित अभिव्यक्ति जीवन के मर्म को आधार बनाती हैं, और वह अपने सौष्ठव के कारण अविस्मरणीय रचना ज्ञात होती है।

'नया साहित्य : नये प्रश्न' के 'निकष' में वाजपेयीजी ने अपने समीक्षक का क्रमिक विकास निरूपित किया है। यहाँ 'समीक्षा क्या है ?' प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि वह न रचना-विशेष की अनुचरी है और न साहित्य का कठोरता से नियंत्रण करने वाली अधिनेत्री। "वह रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभैषिणी सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है।" नए साहित्य में वाजपेयीजी को दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ सक्रिय दिखाई पड़ीं। पहली अंतर्मुखी प्रवृत्ति है, "जो अन्तश्चेतना के दलदल की ओर लिए जा रही है और दूसरी वह, जो उसे बौद्धिकता के रेतीले मैदान में पहुंचा रही है।" इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में समीक्षक तभी उपयोगी कार्य कर सकेगा जब उसमें "सम्यक् साहित्यिक चेतना के साथ-साथ अतिशय आत्म-निर्भर वृत्ति भी हो।" वाजपेयीजी साहित्यिक चेतना और आत्मनिर्भरता के द्वारा अशेष अध्यवसाय की आवश्यकता अनुभव करते हैं। दलदल समतल हो पाए और मरुस्थल हराभरा उद्यान बन जाए, इसके लिए समीक्षक को ही साहित्य का प्रकृत पथ प्रशस्त करना पड़ेगा। 'समीक्षा-संबंधी मेरी मान्यता' निबंध का विषय यद्यपि वैयक्तिक है, पर वाजपेयीजी ने समीक्षा की वस्तुगत सत्ता और उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व को ही लक्षित किया है, अपने समीक्षा-संबंधी दृष्टिकोण का निर्वचन नहीं किया। प्रकारांतर से उन्होंने अपनी विकासशील धारणा को अवश्य प्रकट कर दिया है। व्यक्तिगत अनुभूति को महत्व देने के स्थान पर यहां उन्होंने सामाजिक अनुभूति को प्रश्रय दिया है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक यह स्पष्ट किया है कि "रचनात्मक साहित्य ही सिद्धान्तों की सृष्टि

के लिए उपादान बन सकता है ।" साहित्य का मानव-जीवन के साथ अटूटसंबंध है, अतएव वह सिद्धान्त विशेष से अनुशासित नहीं हो पाता। यदि अनुशासित होता है तो वह रीतिबद्ध रचना कार्य है, जीवंत या स्वच्छंद साहित्य नहीं। स्वयं बाजपेयीजी के समीक्षा-सिद्धान्त छायावादी काव्य-रचना से अनुस्यूत हैं। यहीं वे राष्ट्रीय चेतना और जीवन-विकास की आस्था का, साहित्य और उसकी समीक्षा में अन्तर्भाव कर लेते हैं।

वाजपेयीजी हिन्दी की विकासशील साहित्य-धारा के संवेदनशील समीक्षक हैं। उन्होंने अनुभूति और रस, अनुभूति और अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति और ध्वनि आदि का तारतम्य भी स्थापित किया है। उनका चिंतन स्वच्छंद है और साहित्य ही उनके समीक्षा-सिद्धान्तों का आधार है। उन्हें अनुभूति की प्रधानता मान्य है, पर वे एकान्ततः न रसवादी हैं, न अभिव्यंजनावादी। उन्हें छायावादी समीक्षक और स्वच्छन्द चिंतक समझना चाहिए। उन्होंने अपनी वैयक्तिक साहित्य-संवेदना की अन्तर्मुखता को सामाजिक जीवन से ही संबद्ध नहीं किया, बल्कि अपनी समीक्षा-पद्धति को वस्तुनिष्ठ आधार भी दिया। वे मानववादी प्रतिमान को ग्रहण करके सौन्दर्य की मार्मिक अनुभूतियों का विश्लेषण करते हैं। उन्होंने अपने चिंतनको सैद्धांतिक आधार तथा युग-बोधका आशय दिया है। यह उनकी सुरुचि, संवेदन-क्षमता, परिष्कृत बुद्धि और उदात्त नैतिक चेतना है, जिसके कारण वे सर्वथा नए समीक्षादर्श को अपने ही साहित्यिक विवेक की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर सके। उनके कतिपय वक्तव्यों में स्पष्टता या सफाई की जो कमी देखी जाती है, उसका कारण यही नव्य निदर्शन है, वैचारिक भ्रांति नहीं। इसके लिए उनकी आत्मवादी सिद्धान्त पीठिका भी एक सीमा तक उत्तरदायी है। उन्होंने साहित्य और समीक्षा को एक-दूसरे से संबद्ध करके देखा है और इसी भांति जीवन और साहित्य में ऐसा ही संबंध अनुभव किया है।

बाजपेयी जी का समीक्षा-सिद्धान्त क्या है? इस प्रश्न का एक वाक्य में यही उत्तर है कि वह काव्य-कला की सौंदर्य-संवेदना या अनुभूति-व्यंजना की परीक्षा का सिद्धान्त है। अन्य सभी पश्चिमी या भारतीय सिद्धान्त उसके पोषक या उपस्कारक हैं। इसी कारण वह स्वच्छन्द समीक्षादर्श है। संक्षेप में, 'विकासशील छायावादी समीक्षा-सिद्धान्त' अभिधेय वाजपेयीजी की आलोकना-दृष्टि का तात्विक और समग्र स्वरूप-बोध है। उन्होंने साहित्य की परीक्षा के स्वतंत्र साधन ही अपनाए हैं। वे परम्परा के अनुवर्तक नहीं हैं, नए प्रवर्तन के आविष्कारक हैं। उन्हें युग-विशेष का संवेदनशील समीक्षक और स्थायी साहित्य का समर्थ आचार्य कहना चाहिए। साहित्य की समीक्षा का आधार साहित्य के भीतर ही खोजने के कारण हमारे साहित्येतिहास में वे असाधारण महत्व का स्थान पा सके हैं। उनकी भी सीमाएँ हैं, पर जितने अधिक सतर्क होकर उन्हें

हटाने का वे उद्योग करते रहे हैं, अन्यत्र उतना प्रयास प्रायः नहीं हुआ। वे अपने युग की ऐतिहासिक सृष्टि अवश्य हैं, पर अपनी वैचारिक नव्यता के कारण स्वतंत्र समीक्षा-दृष्टि के प्रयोमता के रूप में कहीं अधिक समादृत हैं। उनका समीक्षा-सिद्धान्त इस कारण विश्वसनीय है कि वह साहित्य के मूलवर्ती या स्थायी तत्व पर आधारित है। उसकी सीमा वैयक्तिक अधिक है, वैचारिक कम। जो हो वह मानव-निष्ठा की नवीन साहित्यिक परिणति और तद्वत् सैद्धांतिक उपलब्धि है।

एक बात और। हाल में बाजपेयीजी राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यकता पर बल देते रहे हैं। उन्हें परम्परा का तिरस्कार और अभारतीय जीवन चर्चा का आकलन असाहित्यिक कार्य ज्ञात हुआ है। पश्चिमी जीवन-दृष्टि, नव्यतर रचनाकार्य के अनुवर्तन की प्रवृत्ति और अभिनव आशय की कलात्मक अभिव्यक्ति उन्हें अनुपयुक्त ज्ञात हुई है। वे नए साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य की भूमिका प्रदान करने के उद्देश्य से नए कृतित्व का नियमन करने की दिशा में प्रवृत्त हुए थे। वे तात्कालिक और स्थायी या आधुनिक और मानवीय पक्षों में से स्थायी या मानवीय पक्ष को ही साहित्य में चिर प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। उन्हें मानवीय स्थायीत्व काम्य था, मानव की प्रतिक्षण बदलने वाली आधुनिकता नहीं। इसी दृष्टि से उन्होंने राष्ट्रीय और मानवीय भाव-भूमि के साहित्य की अभ्यर्थना की थी। नए कृतित्व से उनका विरोध भी इसी दृष्टिकोण के कारण था। उनकी यह नई विकास स्थिति निराली नहीं थी। स्वाभाविक ी। उनके सिद्धान्तों की यही नव्य परिणति थी, जिसे उनके मूल चिन्तन का ही प्रसार या विकास समझना चाहिए।

१२

महादेवीजी : कवि और काव्य-चिन्तक

: १ :

गीति-कवि महादेवी जी की काव्य-कला का विशिष्ट व्यक्तित्व है और उनकी साहित्य-चिन्ता की एक पृथक् सरणी है। यहां पर उनकी रचना और विचारणा को पारस्परिक परिप्रेक्ष्य में रखने का उपक्रम किया गया है। महादेवी जी के काव्य की एक निश्चित दार्शनिक भूमिका ही नहीं है, वल्कि उनका चिन्तन भी कवित्व-पूर्ण है। वे कविता को परिपूर्ण क्षणों की वाणी के रूप में उपस्थित करती रही हैं। अतएव उन्हें प्रत्यक्ष सौंदर्य और व्याप्त चेतन में अन्तर्हित सामंजस्य की स्थिति अथवा विश्वासी वुद्धि और विवेकी हृदय की आवश्यकता का निर्देश करना पड़ा है। कहा भी गया है कि उनकी विवेचना उनके कवि तथा विचारक के सामंजस्य का सुफल है। उनके विचार स्वभावतः चाहे साहित्य के स्थायी प्रतिमान न माने जा सकें, पर उनकी रचना को समझने में वे निस्सन्देह सहायक हो सकते हैं।

महादेवीजी को शाश्वतवादी या अखंडतावादी कवि और विचारक समझना चाहिए। अपने यहां अखंडत्व की अनुभूति अथवा परम सत्य या आत्म तत्व के साक्षात्कार को परम पुरुषार्थ माना गया है। महादेवी जी मुख्यतः यही दृष्टिकोण अपनाती हैं और इसी कारण वे आतिशयिक व्यापकता का संधान करती चलती हैं। इस व्यापकता की यह सीमा है कि सर्वत्र असाधारणता की गरिमा ही अवशिष्ट रहती है और साधारणता का महत्व नष्ट हो जाता है। इसकी यह उपलब्धि है कि इसी कारण महादेवीजी कविता और समीक्षा के क्षेत्रों में उदात्त मनोभूमि पर अधिष्ठित दिखाई पड़ती हैं। पर यह स्थिति उन्हें तत्वान्वेषी अवश्य वनाती है, उनके संवेदना क्षेत्र को समृद्ध नहीं

कर पाती। फलतः वे नितान्त वैयक्तिक भूमिका पर सक्रिय होती हैं और निजी निष्ठा के कारण संपूर्ण जड़ और चेतन जगत से अपने को संबद्ध अनुभव करती हैं। संभवतः इसी विशेषता ने एक दृष्टिकोण से उन्हें छायावाद के प्रकृत क्षेत्र से बाहर रखा तथा दूसरे दृष्टिकोण से उनकी समस्त रचना को काम-कुंठा का परिणाम माना।

यहाँ इस केन्द्रीय प्रश्न का विश्लेषण कर लेना चाहिए—कि महादेवी जी की रचना-प्रेरणा क्या है? जो कुछ ज्ञात और उपलब्ध है, उसके आधार पर वे दार्शनिक कवियित्री कही जा सकती हैं। उनके अध्ययन ने उन्हें सर्वात्मवादी विचारधारा प्रदान की। उनकी उत्तरवर्ती रचनाओं में इसकी ही अधिक अभिव्यक्ति हुई। बुद्ध के करुणावाद ने उनके वेदना-दर्शन को एक व्यापक वातावरण प्रदान किया। अपने आरम्भिक काल में संभवतः वे रहस्य-काव्य से और विशेषतः उपनिषदों से प्रभावित रही हैं। वे सर्वत्र सांकेतिक व्यंजनाओं से भी काम लेती रही हैं। उनके काव्य में सामाजिक अनुभूतियों की प्रायः अवहेलना हुई है। उन्हें एकांतिक और असामाजिक भाव-भूमि का कवि कहा जा सकता है। पर उनकी वृत्तियाँ सूक्ष्म सत्य का इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण करती हैं कि सर्वात्मवाद उन्हें लोक-बाह्य हो जाने से बचाए रखता है। पर ये सब वैचारिक प्रवृत्तियां हैं, जिन्हें मनन के द्वारा अपनाया गया जान पड़ता है। कठिनाई यह है कि महादेवी जी लोक-सामान्य भाव-भूमि की कवयित्री है ही नहीं। कहीं भी मानवीय साधारणता अथवा स्वच्छंदता को वे प्रकट ही नहीं कर पाईं। उन्होंने भावोत्कर्ष और जीवनादर्श को ही वाणी दी। यह नारी की शालीनता, संयम और गोपन प्रवृत्ति का भी परिणाम है कि उनकी रचना की असामान्य भाव-भूमि सुस्थिर रही। अतः महादेवीजी की काव्य-प्रेरणा के संबंध में तीन प्रकार के विकल्प हो सकते हैं, यथा—

१. वे रहस्यवाद को न केवल व्यक्त करती हैं, वरन् वह उनकी जीवनानुभूति भी है।
२. रहस्यवाद उनके चिंतन का विषय है और उनकी प्रतिभा ने उसी का आरोप करते हुए उसे प्रकृत अनुभूति का स्वरूप दे दिया है।
३. कोई एक घटना जैसे संपूर्ण जीवन को आन्दोलित कर जाती है, उसी भांति व्यक्तिगत जीवन का कोई प्रसंग या प्रभाव भावोन्नयन करता हुआ रहस्यानुभूति के रूप में स्थिरता पा गया है।

एक चौथा विकल्प भी हो सकता है, पर मैं नहीं समझता कि महादेवीजी की विरह-वेदना को अवास्तविक कहा जा सकता है, क्योंकि कृत्रिम अनुभूतियाँ महान कला का निर्माण कभी नहीं कर पातीं। अस्तु, महादेवीजी को निरवधि विप्रलंभ का आदर्श प्राण गीतिकार कहा जा सकता है। निश्चय ही यह विरहावस्था आवेगमयी नहीं है।

उसका वातावरण प्रशांत है और अत्यन्त सूक्ष्म भी। वे शान्त रस के आवेष्टनों में शृंगार को रूपायित करती हैं। वियोगिनी की विविध मनोदशाओं का जहां-तहां चित्रण भी होता गया है। मैं कहूंगा कि सौंदर्य और सात्विकता अथवा प्रेम और वैदुष्य को एक साथ प्रकट करने के कारण वे न केवल प्रेमिका रह पाई हैं, न केवल साध्वी। उभय गुणों को उन्होंने एकीकृत वस्तु बना लिया है। इसी कारण उनका रचना-कार्य एक पृथक-कोटि-क्रम को निर्दिष्ट करता है।

इस विवेचन का क्या यह निष्कर्ष तो नहीं है कि महादेवीजी को रहस्यवादी कवि मान लिया जाए और प्रकृत्त अनुभूतियों के कवियों से उन्हें अलग रक्खा जाए? वे सत्य की चिरंतनता या अखंडता को लक्ष्य में अवश्य रखती हैं, पर वे जीवन की परिधि में सौंदर्य के माध्यम द्वारा ही उसे अभिव्यक्त करना चाहती हैं। यहीं वे छायावादी भाव-क्षेत्र से पृथक् होते-होते भी बच ही जाती हैं। प्रकृति का सौंदर्य, जीवन का दुःख और इनके प्रति आत्मीयता का भाव उनकी अनुभूति को अकाव्यात्मक परिच्छेद से पृथक् ही रखता है। वे प्रेम की कवयित्री, सौंदर्य की उद्भाविका और करुणा की देवी बन जाती हैं। अवश्य ही वे अपने रचना-कार्य में देवी अधिक हैं, मानवी कम। आशय यह है कि उनका व्यक्तित्व समुन्नत और सुसंस्कृत ही नहीं है, वे निष्कलुष अंतर्वृत्ति की कलाकार भी हैं। यह भी कहा ही जा सकता है कि मानवीय दुर्बलताएँ उनमें भी हैं, पर वे अपने को प्रकृत रूप में कहीं उपस्थित नहीं करतीं। उनका व्यक्तित्व आवरणों से आच्छादित है अथवा अप्राकृत स्वरूप अपनाए हुए है। पर इस प्रकार के अनुमान के लिए कोई प्रत्यक्ष आधार सुलभ नहीं है।

उन्होंने अपनी वेदना को पार्थिव दुःख के अभाव से अनुस्यूत माना है। दुःख और अभाव का न होना क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार क्या उनकी इस मानसिक स्थिति का कारण है? इसका सही उत्तर मनोविश्लेषक ही दे सकेंगे। मैं यही कहूंगा कि वेदना की मधुर अनुभूति महादेवीजी को स्वभावतः भी चाहे काव्य जान पड़ी हो, पर दुःखवादी बौद्ध दर्शन के प्रभाव के रूप में उसे ग्रहण अवश्य किया गया है। यही नहीं, कवयित्री ने उसे सोच-समझकर एक सैद्धांतिक परिणति भी दी है, यथा—"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बांध रखने की क्षमता रखता है।" दुःख की यह तर्क-सम्मत परिणति मानसिक ललक मात्र नहीं है। उन्हें दुःख के दोनों रूप प्रिय हैं—यथा—"एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बंधन में बांध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बंधन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।" मैं समझता हूं कि यहां छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर को अनजाने ही लक्षित किया गया है। दुःख का पहला प्रकार महादेवीजी के गद्य में वाणी पा सका है, पर उनके गीतों में वह प्राकृतिक सौन्दर्य तक ही अधिक से अधिक अग्रसर हो पाया है। दुःख के दूसरे प्रकार की उनके

आरम्भिक गीतों में काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है, पर उत्तरवर्ती रचनाओं में वह सर्वात्मवादी दर्शन की व्याख्या या विवरण का आभास भी देती हैं। दुःख का दूसरा प्रकार ही महादेवीजी का मूल भाव कहा जा सकता है। उनके गीतों की यही स्थायी अन्तर्वृत्ति जान पड़ती है।

अस्तु, महादेवीजी की रचना-प्रेरणा है दुःख और वह भी वैयक्तिक, क्योंकि उनका काव्य प्रगीत शैली में रचा गया है, जिसकी अंतःप्रकृति ही स्वानुभूति की अभिव्यंजना है। स्वयं कवयित्री ने कहा है कि "मेरे गीत मेरा आत्म-निवेदन मात्र है।" अतएव दुःख के दूसरे रूप की ही व्याप्ति को प्रमाणित किया जा सकता है। यह विशेषता अवश्य है कि इस दुःख को दार्शनिक पीठिका पर प्रतिष्ठित किया गया है और इसे सैद्धान्तिक परिणति दी गई है। दुःख के कारणों के संबंध में चाहे जो ऊहापोह होते रहें, पर मानवीय दुर्बलता, लौकिक आसक्ति, मानसिक स्खलन, इत्यादि से यह कहीं भी संपृक्त मात्र भी नहीं हो पाया, यह तथ्य निर्विवाद है और बुध-सम्मत भी।

महादेवीजी को अभी एक स्थान पर 'देवी' कह आए हैं। वह इस कारण कि उनका रचना-कार्य कहीं भी लौकिक आकर्षण-विकर्षण या सामान्य राग-द्वेष के स्तर पर नहीं आ पाया। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके मन में जीवन की आकांक्षा या सौंदर्य की लालसा नहीं है। उनके काव्य में नारीत्व का अपूर्व उन्मेष है। उनकी विकलता न केवल आध्यात्मिक है, वरन् लौकिक भी। उनके निकट मानव की आत्मोपलब्धि, नारी का पूर्णत्व और सत्य का साक्षात्कार अपृथक् किन्तु सूक्ष्म भावों की चित्र-योजना ही है। निराशा, पलायन आदि उनकी रचना के औपचारिक उपादान मात्र हैं। वास्तविक अध्यात्मवादी आस्थावान् होता है। अतएव वह आशा को त्याग नहीं पाता। अवश्य ही जीवन के संघर्षों को असार मान लेने के कारण कुछ अध्यात्म-वेत्ता साधनावस्था की अवधि में पलायन को काम्य मानते हों, पर वे ही आत्मोपलब्धि करके अपनी असीम करुणा की जगत् पर अजस्र वर्षा भी करते देखे गए हैं। स्वयं महादेवीजी जिज्ञासामयी हैं, मुमुक्षु हैं, दार्शनिक हैं या साधक, इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं है, पर उनके काव्य में जीवन की चाह है और सौंदर्य की लालसा तथा गद्य-साहित्य में उनकी करुणा का व्यापक प्रसार हुआ है, यह जानना ही पर्याप्त है। 'जाग तुझको दूर जाना', 'रात के उर में दिवस की चाह का शर हूं', जैसे कथन उनकी जीवनास्था को ही व्यक्त करते हैं। स्थूल में ही सूक्ष्म की उपलब्धि होती है, शरीर द्वारा ही अध्यात्म का बोध होता है, मूर्तजगत् में ही अमूर्त चेतना आभासित होती है, अतएव महादेवीजी को दुःखवादी दार्शनिक या सर्वात्मवादी रहस्यवादी ही कहना कदाचित् अर्द्धसत्य का निर्वचन समझा जाएगा। वस्तुतः वे जीवन के प्रत्यक्ष सौन्दर्य और परोक्ष सत्य को एक साथ अपनाती आई हैं। इन दोनों में साम्य का अन्वेषण उन्हें काम्य है, भेद या विरोध का आविष्कार नहीं। वे मूलतः अध्यात्मवादी या आदर्शवादी हैं, पर वे अंशतः मानववाद को भी अपना-

सकी हैं। मानववाद की सौन्दर्य-निष्ठा उन्हें प्रिय है, पर उसका अन्तर्वर्ती करुणावाद उनके गद्य-साहित्य में और विशेषतः उनके जीवन में प्रत्यक्ष हुआ है।

महादेवीजी के साहित्य की मूल चेतना और मुख्य प्रवृत्ति को यहां स्पष्ट कर लेने का उपक्रम हुआ है। उन्हें छायावादी, रहस्यवादी या मानववादी कह देना अथवा निराशावादी, पलायनवादी या व्यक्तिवादी विशेषण से संयुक्त कर लेना कदाचित् हमें साहित्यिक विश्लेषण के क्षेत्र में अधिक दूर तक नहीं ले जा सकेगा। उन्हें सांस्कृतिक चेतना-संपन्न, उदात्त भाव-भूमि-युक्त, व्यापक सामंजस्य वादी दृष्टि-समन्वित तथा शाश्वतवादी रचनाकार कहना कहीं उपयुक्त होगा। अवश्य ही वे गीति-कवि हैं, रहस्य-वादी चिंतक हैं और सौन्दर्य-चेता कलाकार हैं। न मानवीय अनुभूतियों का सतही स्वर ही उनके काव्य में कहीं सुनाई पड़ा, न ऐन्द्रिय आकर्षणों का चटकीलापन ही कहीं प्रकट हो पाया। वे उच्च मनोदशा की गीतिकार हैं। उन्होंने मानवीय अनुभूति की गरिमा और सात्विकता को वाणी दी है, पर उसका आधार एकांततः वैयक्तिक है।

: २ :

हमारे सम्मुख यह प्रश्न समुपस्थित होता है कि दर्शन किस सीमा तक काव्य का उत्कर्ष-विधायक तत्व है और किस सीमा तक वह त्याज्य है? महादेवी जी का काव्य दर्शन से अनुप्राणित है। मैं समझता हूं कि दर्शन जहां तक काव्यानुभूति का सहायक तत्व है, वहां तक वह उपादेय है, पर जहाँ वह काव्यानुभूति का स्थानापन्न तत्व बनने का उपक्रम करने लगता है, वहां वह अपनी सीमा को लांघ जाता है। महादेवीजी के काव्य में संस्कारिता और सुरुचि दोनों हैं और नारी-सुलभ भाव विवृत्ति भी, अतएव उनका तत्व-दर्शन प्रायः काव्य को श्री-हत नहीं कर पाया। वह इस अर्थ में उपादेय है कि उसके कारण मानवीय अनुभूतियां संयत बनी रहती हैं। अवश्य ही दार्शनिक गांभीर्य के कारण यह काव्य गहन या गरिष्ठ हो गया है और एकांत क्षणों में ही आस्वादित किए जाने की अपेक्षा रखने लगा है। कवयित्री इसे उपनिषदों का मर्म तो दे सकीं, पर उसके काव्यत्व का सार्वजनिक आकर्षण नहीं निखार पाई।

महादेवीजी के काव्य की कठिनाई दूसरी है। वे लोक-सामान्य भावसंवेदनों के स्थान पर विशिष्ट मनस्थिति के वैयक्तिक भाव-चित्र आलेखित करती हैं। उनके काव्य में सूक्ष्मता, सुकुमारता, कल्पनाशील सांकेतिकता आदि का प्राधान्य है। वह अरूपात्मक (Abstract) रचना-कार्य है, जिसमें बीच-बीच में कल्पना-छवियां झांक जाया करती हैं। वे प्रतीक योजना के द्वारा ही प्रायः अपना काम चला लेती हैं। पर अंततः यह रूपवादी प्रवृत्ति है, जो अलंकृति को अवश्य बढ़ाती है, पर भावोन्मेष को बल नहीं देती। कटा-छंटा रचना व्यापार, अलंकृति-पूर्ण छंद-शिल्प, सांकेतिक

पद-योजना और लाक्षणिक चित्र-सृष्टि, ये सब मिलकर काव्य को क्लिष्ट ही बनाते हैं। भावों की सहज अभिव्यक्ति यहां संभव ही नहीं रह पाती। इसी कारण महादेवी के रचना-कार्य को प्रायः आभास-साध्य या अकाव्योचित माना गया है। मैं समझता हूं कि परवर्ती काव्य में जहां सांग रूपकों की योजना हुई है अथवा एक ही कल्पना संपूर्ण गीत में सुस्थिर रह सकी है अर्थात् जहां चित्र, अलंकार या भाव की अन्विति विद्यमान है, वहां रमणीय काव्यांशों के भी दर्शन होते हैं। महादेवीजी का काव्य छायावादी काव्य-शैली की समृद्धि और साज-सज्जा का काव्य है, पर जितना वह चमत्कार-पूर्ण है, उतना सहज संवेद्य नहीं। कवयित्री ने उसे सभी प्रकार से असाधारण, गहन-गंभीर और सांकेतिक बनाया है। बुद्धि और भावना दोनों के संयोग से कला की सृष्टि होती है और महादेवीजी ने इन्हीं के आधार पर अपने काव्य का धूप-छांही वस्त्र बुना है। जो हो, महादेवीजी का काव्य विशिष्ट है, अपनी मिसाल आप हैं। उसमें उनकी भगवान बुद्ध की धारणा की भांति दोनों तत्व मौजूद हैं "कठोर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्व।" पर कहीं-कहीं उनकी उक्तियां अतिशय मार्मिक हुई हैं।

आशय यह है कि महादेवीजी की काव्य-कला सामान्य श्रेणी की नहीं है, पर उसमें कतिपय दोष विद्यमान हैं। वे काव्य को बुद्धि ही नहीं अभ्यास के धरातल तक ले जाती हैं और अपनी समीक्षा को जो शास्त्र-सम्मत नहीं, स्वतंत्र चिंतन है, काव्यात्मक धरातल देती चलती हैं। फलतः कविता तो गहन ही हो सकती है, पर विवेचन भावना-संवलित जान पड़ता है। भावमय बुद्धि और विवेकमय हृदय सामान्य कथन के रूप में चाहे ठीक जान पड़ें, पर इनका सम्यक् निर्वाह लौकिक क्षेत्र में प्रायः कठिन ही होता है। महादेवीजी के तर्क इसी कारण एकांगी व्यापकता या अपूर्णपूर्णता से संयुक्त जान पड़ते हैं। उन्हें कवि-वचन मान कर ही संतोष करना चाहिए। पूर्ण मानवता या अखंड सत्य की धारणा के वे कदाचित् अधिक निकट हैं। महादेवीजी की काव्य-समीक्षा और गीति-रचना का सापेक्षिक महत्व है। उनके विचारों को निर्भ्रांत या पूर्ण सत्य मान लेने की कोई आवश्यकता नहीं है, पर वे इतने व्यापक हैं कि मतभेद की संभावना से एक सीमा तक विमुक्त हैं। अवश्य ही वे रहस्यात्मक गीति-काव्य, छायावादी सौन्दर्य-सृष्टि और तद्युगीन साहित्य-चिंतन उपस्थित करने में विशेषतः कृतकार्य हुई हैं। वे अपने युग की श्रेष्ठ और प्रतिनिधि कवि हैं। उनके चिंतन का उस युग की विचारधारा से समीपी संबंध है। उन्होंने न केवल साहित्य लिखा है, पर मैं समझता हूं कि उन्होंने उसे जिया भी है। वे एक व्यक्ति नहीं, एक संस्था हैं; एक कवि नहीं, एक युग हैं।

महादेवीजी की साहित्य तथा कला-संबंधी विचारणा का आशय निश्चय ही आदर्शवादी कोटि का है। उनका आत्मवादी दृष्टिकोण उनके समस्त रचना-कार्य में परिव्याप्त है। यह रचना-कार्य न एकान्ततः बौद्धिक है, न पूर्णतः रागात्मक। मैं समझता हूं कि विचारों के क्षेत्र में वे रागात्मक हैं और कविता के क्षेत्र में चिन्तक।

मानवीय पूर्णता के लिए उन्हें हार्दिकता और बौद्धिकता का सामंजस्य अनिवार्य जान पड़ता है। उनके काव्य और समीक्षात्मक निबंधों की यह सीमा हमें स्वीकार कर लेनी चाहिए। यह भी कह सकेंगे कि कवि और विवेचक के रूप में उनका चिंतक व्यक्तित्व ही प्रकट हुआ है। शुद्ध बौद्धिकता उनमें कम ही है, अन्यथा उनकी रचना में शास्त्रीयता अधिक होती; और प्रकृत रागात्मकता की उनमें न्यूनता है, अन्यथा वे स्वच्छंद कवयित्री होतीं। उनका गद्य कवित्वपूर्ण है और काव्य सचेत कलाकारिता और बौद्धिक-निष्ठा से आपूर्ण। अवश्य ही महादेवीजी की पूर्णत्व की यह कल्पना वैयक्तिक है और बहुत-कुछ निर्विशेष भी। मैं समझता हूं कि उसे संतों के स्वानुभूति दर्शन का नव्य निदर्शन नहीं कहा जा सकता। वहां स्वानुभूति का स्वरूप निश्छल और निर्व्याज है, पर महादेवीजी के यहां वह अतिरंजित है और बौद्धिक निरूपणों से अपृथक्। अतएव उन्हें चिंतनशील कवि और भावुक समीक्षक समझना चाहिए। अनुभूति का आधार, कल्पना का वैभव अथवा विचारों का प्रकाश उन्हें अभीष्ट अवश्य है, पर मुख्य तो उनके चिंतनशील कलाकार की उपर्युक्त पूर्णत्व कल्पना ही है।

: ३ :

साहित्य और साहित्यकार एवम् काव्य तथा कला-संबंधी अपने विचारों में महादेवीजी ने सर्वत्र उत्कर्ष-विधायिनी विचार-धारा का परिचय दिया है। "साहित्य-सृजन व्यक्तिगत रुचि मात्र न होकर महत्वपूर्ण सामाजिक कर्म है" —कहकर महादेवी जी साहित्य को सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करती हैं तथा उसे बहुमुखी दायित्व देने वाला रागात्मक कर्म भी मानती हैं। वे समझती हैं कि साहित्य व्यक्ति के लिए ही नहीं, समष्टि के लिए भी मूलतः निर्माण है, जो 'सृजन के किसी विराट् ऋत की परिधि में चलने वाले एक जीवन-ऋत की ही संज्ञा' पा सकता है। मैं कहूंगा कि इस कसौटी पर उनका आत्म-निवेदनात्मक गीतिकाव्य किसी बड़ी सिद्धि को नहीं प्राप्त कर सकेगा। उन्होंने काव्य को चाहे ऋत समझा हो, पर वह किसी महत्वपूर्ण सामाजिक दायित्व को चरितार्थता नहीं देता। अवश्य ही उनका नारीत्व-बोध सर्वत्र विद्यमान है।

काव्य को महादेवीजी सर्वोच्च कला स्वीकार करती हैं। सत्य को उसका साध्य तथा सौंदर्य को उसका साधन भी वे मानती हैं। उन्होंने सामाजिक दृष्टिकोण को अपेक्षाकृत बहुत बाद में ग्रहण किया है, पर परवर्ती निबंधों में एतद्-विषयक उल्लेख मिलते हैं। आरम्भ में वे मानवतावाद के सन्निकट थीं, इसीलिए यह कह सकीं कि "कविता सब से बड़ा परिग्रह है, क्योंकि वह विश्वमात्र के प्रति स्नेह की स्वीकृति है।" उनके ऐसे कथनों में अर्थवाद ही समझना चाहिए, क्योंकि उनका संपूर्ण कवि व्यक्तित्व सूक्ष्म भाव-चेतना से गठित है और उनके काव्य में व्यक्त जीवन के संकेत प्रायः विरल हैं। उन्होंने सत्य के संधान-गीत लिखे हैं और प्राकृतिक या लौकिक सौन्दर्य को मात्र माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। माध्यम का भी महत्व है, पर वह साध्य का

समकक्ष तत्व नहीं है। इसी कारण उन्हें काव्य-कला को 'हृदय तथा मस्तिष्क का संधि-पत्र' कहना पड़ा है। उनकी दृष्टि में सत्य शुष्क है, पर अनुभूति मधुर, जो सत्य को आनन्द से स्पंदित कर देती हैं। संभवतः अनुभूति, माध्यम और लक्ष्य तीनों को इस प्रकार बांटा नहीं जा सकता। अनुभूति मधुर क्यों है, माध्यम सुन्दर क्यों है और लक्ष्य सत्य क्यों है तथा इन तीनों में क्या संबंध है? यह जानने के लिए एक ही भाव-प्रक्रिया को समझना होगा। कदाचित् महादेवीजी के काव्य में दर्शन को अनुभूति पर आरोपित करते हुए उसे व्यापक सौंदर्य में लक्षित करने का उपक्रम हुआ है। इसीलिए जीव, जगत् और परमतत्व का पृथक्करण कर लिया गया है। अवश्य ही इस व्याज से उनका तत्वज्ञान उद्घाटित हो गया है। वे समझती हैं कि युग-प्रवर्तक साहित्यकार तब पैदा होता है, जब 'भावना, ज्ञान और कर्म एक सम पर मिलते हैं।' इस प्रकार के सुसंगठित मानसिक व्यक्तित्व की धारणा उत्कृष्ट है और काम्य भी। किन्तु तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ भी इस सम की भूमिका पर कदाचित् ही पूर्णतः प्रतिष्ठित समझे जा सकें।

महादेवीजी जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति के रूप में काव्य-कला को महत्वपूर्ण समझती हैं। उनका कथन है कि "कलाकार का लक्ष्य जीवन की कुरूपता तथा सौन्दर्य, दुर्बलता तथा शक्ति, पूर्णता और अपूर्णता सब की सामंजस्यपूर्ण रागात्मक अभिव्यक्ति है और उसकी चरम सफलता जीवन तथा विश्व में छिपे हुए सत्य को सब ओर से स्पर्श कर लेने में निहित है।" वे पार्थिव जगत् और अंतर्जगत् दोनों का समकक्ष महत्व मानती हैं, क्योंकि "बाह्य जीवन की सीमा में बामन जैसा लगने वाला कार्य भी हमारे अन्तर्जगत् की असीमता में बढ़ते-बढ़ते विराट् हो सकता है।" अस्तु, महादेवीजी काव्य-कला को सत्य की ही अभिव्यक्ति समझती हैं। यह सत्य बुद्धि और भावना के दो अर्द्धवृत्तों से घिरा हुआ है। इसी कारण उन्हें काव्यकला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखंड सत्य ज्ञात होता है। इस दृष्टि से वे अपनी स्थापनाओं का निर्वाह करती हैं कि उनके काव्य में पार्थिव सौन्दर्य के माध्यम से अखंड सत्य की प्रतीति ध्वनित हुई है। कवि का वैयक्तिक सत्य यही है, जिसे काव्यकला का सत्य भी अनिवार्यतः कहा जाएगा। पर उनके काव्य में सत्य को स्पर्श करने की चेष्टा ही है, उसे सब ओर से घेर लेने का प्रयास नहीं। यहां सत्य ही पूर्ण है, अनुभूति नहीं और उसकी उपलब्धि के साधन भी नहीं। इसी कारण महादेवीजी के गीत परिपूर्ण क्षणों की वाणी नहीं हैं और यदि हैं तो अंशतः ही। यहाँ जीवन की पूर्णता की नहीं, पूर्णकामत्व की भी कामना नहीं की गई। सत्य का बोध और उसकी व्याप्ति, उसके प्रति अनवरत आकर्षण और अपना सीमित अभाव, जो आनन्द का अक्षयस्रोत है, वस्तुतः महादेवीजी के गीतों की व्याख्या है। निश्चय ही यहां जीवन की पूर्णता नहीं है, वैविध्य में तात्विक एकता की अनुभूति नहीं है, यहां केवल सत्य के पूर्णत्व में विश्वास है और पार्थिव सौन्दर्य में उसका आभास पाने वाली अपनी अनुभूति पर नारी-सुलभ अभिमान है।

महादेवी जी ने काव्य-कला को प्रतिभा और अनुकूल मानसिक गठन का परिणाम माना है। केवल अभ्यास को वे अनुपयोगी समझती हैं। साथ ही वे लोक-हृदय की पहचान पर भी बल देती हैं। उनका काव्य उत्कृष्ट प्रतिभा और उपयुक्त मानसिक गठन का परिणाम अवश्य है, पर उनकी कला में परिश्रम-साध्य अलंकृति मौजूद है। उनकी लोक-हृदय की पहचान अत्यन्त परिमित है। यही कारण है कि उनकी कला अतिशय व्यक्ति-निष्ठ है। वह लोक-सामान्य कविता की श्रेणी में नहीं आ पाती। वे एक विशेष मानसिक धरातल पर काव्य-सृष्टि करती हैं, अतएव उसका यथावत् आस्वादन भी उसी प्रकार की मनःस्थिति में संभव हो पाता है। उनकी कला सूक्ष्म और भास्वर है तथा उनकी चिंतन-भूमि का आधार विशिष्ट और अपार्थिव है। उन्होंने श्रेष्ठ और शाश्वत काव्य के लक्षण स्पष्ट करते हुए अपने काव्य की सीमाओं या विशेषताओं का स्वभावतः कहीं निर्देश नहीं किया।

सत्य की साहित्यिक अभिव्यक्ति का या काव्य-कला का क्या प्रयोजन है? महादेवीजी के अनुसार "कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बांधती है", यह कथन एक ओर आध्यात्मिक काव्य की स्थिति स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर व्यापक करुणा-भाव अथवा सहृदयता की आवश्यकता पर बल देता है। महादेवीजी की कविता निश्चय ही प्रथम कोटि की वस्तु है, दूसरी कोटि की संस्थिति उनके संस्मरणों में है, गीतों में नहीं। वे कवि के लिए यह आवश्यक समझती हैं कि "वह सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी संपूर्ण संवेदन-शक्ति के साथ जीवन में घुल मिल जावे।" इस कथन की चरितार्थता महादेवीजी के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में देखी जा सकती है, उनकी कविता में नहीं। और उनकी दृष्टि में मानव-जीवन की यह व्याख्या है कि वह "जड़ और चेतना का ऐसा स्थायी संधि-पत्र है, जिसमें पार्थिवता से वलयित चेतना ही को विशेषाधिकार प्राप्त है।" शरीर की गति चेतना के कारण है और चेतना का स्पंदन शरीर के कारण। उनका चिन्तन सर्वत्र एक रस है, जिसकी गति आन्तरिक है, बहिर्मुखी नहीं।

काव्य-कला-विषयक इस विवेचन के अन्तर्गत यह निर्देश करना होगा कि वे तात्विक और समन्वयवादी भूमिका पर ही स्थिर रही हैं। निस्सन्देह उन्होंने अपना विशेष मार्ग इसी के अन्तर्गत निर्मित किया है। बुद्धि और भावना, स्वप्न और यथार्थ, वस्तु और अध्यात्म, उपयोगिता और संस्कारिता आदि के मध्य एक व्यापक साम्य की स्थिति का उल्लेख किया गया है। वे ऐसा उदात्त दृष्टिपथ स्थिर करती हैं कि, जिसके अन्तर्गत कहीं वैषम्य, विरोध या वैपरीत्य नहीं दिखाई पड़ता। वहां सब प्रकार के अन्तर तिरोहित हो जाते हैं। यह विचार-सरणी अतिशय भावमयी और आदर्शनिष्ठ है। महादेवीजी के विचारों का खंडन तभी संभव है, जब उनके इस भावात्मक आदर्शवाद

अथवा सर्वातिशयी अध्यात्मदर्शन का विरोध किया जाए। मैं समझता हूं कि महादेवीजी के दृष्टिकोण में भी सार है, पर उसकी अतिव्याप्ति ही उसका दोष है। उनकी दृष्टि में "सत्य काव्य का साध्य है और सौन्दर्य उसका साधन है।" सत्य को वे उसकी एकता में असीम मानती हैं और सौन्दर्य को उसकी अनेकता में ससीम। स्पष्टतः यह आत्मवादी-धारणा है, पर इसमें जगत् का निषेध नहीं है। यह समन्वय-शील दृष्टि कही जा सकेगी, पर इसमें भी साधन की अपेक्षा साध्य की प्रमुखता विद्यमान है। अतएव महादेवीजी अपने काव्य में प्रकृति या दृश्यजगत् को मात्र माध्यम बना पाई हैं और यही उनके काव्य की प्रतीक योजना, अलंकृति या सांकेतिक भाव-व्यंजना का कारण है। यहीं वे स्थिति को अपना लेती हैं, जहां वे मानववाद की सीमाओं को अतिक्रमित कर जाती हैं।

महादेवीजी के लिए आस्था वह भावभूमि है, जो जीवन की सहजात चेतना के विकास-क्रम में ही निर्मित होती है। उसे वे व्यक्त के द्वारा समष्टि की स्वीकृति ही नहीं, ऋत् का रागात्मक स्वरूप भी मानती हैं। अतएव व्यक्तिगत आस्था को वे व्यापक जीवन-लक्ष्य से संबद्ध कर लेती हैं, जिसका सामाजिक विकास अथवा जगत् की परिवर्तनशीलता से कोई विरोध नहीं है। वे समसामयिक और शाश्वत का 'है' और 'होना चाहिए' के रूप में निर्वचन करती हैं। उनकी दृष्टि में इन दोनों के बीच कोई तात्विक विभेद नहीं है, क्योंकि वे इन्हें साधन और व्यापक लक्ष्य समझती हैं। इसीलिए आज के साहित्यकार की आस्था के संबंध में उनका कथन है कि यही "समसामयिक परिस्थितियों से संघर्ष कर उन्हें लक्ष्योन्मुख बना लेने की शक्ति दे सकती है।" महादेवीजी एक आस्थावान् रचनाकार हैं, यह असंदिग्ध है, पर उनकी आस्था का स्वरूप भावनामय और आदर्शवादी है। काव्य के अन्तर्गत वे अपने इसी दृढ़ विश्वास के कारण अपार्थिव सत्ता के प्रति विरह-निवेदन कर सकी हैं, पर यथार्थवादियों के दृष्टिकोण से आस्था का प्रश्न इस प्रकार हल नहीं हो पाता। परिस्थितियों की जटिलता के प्रति जीवनास्था को अडिग रखने का काम आत्मवादी के लिए जितना सहज है, उतना पदार्थवादी के लिए नहीं। आस्था को उन्होंने सृजन की दृष्टि से व्यक्तिगत, पर प्रसार की दृष्टि से समष्टिगत माना है। यह तभी संभव है, जब कला का उस सीमा तक साधारणीकरण होता चले, कि जिस सीमा तक जीवन दृष्टि का विभेद थोड़ा भी बाधक न बन पाए। अवश्य ही यहां स्थायी या श्रेष्ठ कलाकृतियों की बात कही गई है। महादेवीजी हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या को 'निकटता की दूरी' समझती हैं। यहीं वे मानवता, शिवता तथा जीवनास्था की आवश्यकता अनुभव कर सकी हैं, क्योंकि हमारा समाज "न जीवन के व्यापक नियम से प्राणवंत है और न अपने देशगत संस्कार से रसमय।" उन्हें आज के भारत का मनोजगत् ज्वरग्रस्त दिखाई पड़ता है। यह प्रसन्नता की बात है कि महादेवीजी की सामाजिक चेतना

प्रबुद्ध रूप में प्रकट हो पाई। हमारे नए जीवन ने उनके संस्कारों पर आघात किया है और वे उसके उपचार के लिए अपनी जीवन-दृष्टि का प्रसार चाहती हैं। यह प्रवृत्ति उनकी रचना में अभी-अभी उभरी है, पर खेद है कि वे अपने कवि-कर्म से तब तक प्रायः विरत भी हो गई हैं। 'बंगाल का काल' और 'हिमालय' शीर्षक काव्य-संकलनों के संपादन के मूल में यही लक्ष्य-बद्ध युग-चेतना सक्रिय हुई है।

:४:

नई काव्य-धारा के विषय में महादेवीजी की धारणा है कि उसमें मर्मस्पर्शिता का अभाव है, जो काव्य का दोष है, नवीनता का अनिवार्य परिणाम नहीं। काव्य में सत्य का रागात्मक स्वरूप ही अपेक्षित है, तार्किक नहीं। यह आवश्यक नहीं है कि उसकी कोई प्रत्यक्ष उपयोगिता भी हो। महादेवी जी समझती हैं कि यथार्थ का काव्यात्मक चित्रण सहज कवि-कर्म नहीं है। उन्होंने बौद्धिक निरूपणों द्वारा कुछ प्रचलित सिद्धान्तों का प्रतिपादन और आदर्शवाद की विरोध-भावना का व्यक्तिकरण करते हुए क्रमशः प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की अकाव्यात्मक स्थिति स्पष्ट की है। गीति-परम्परा में उन्हें कवि के अहंकार की अनुभूति नहीं, रूढ़ि दिखाई पड़ी है। उन्होंने अश्लीलता के प्रश्न को विकृति के रूप में देखा है और ऐसे साहित्य को पतनोन्मुख माना है। यह विकृति एक ओर समष्टिगत है और दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तवाद का परिणाम। यथार्थवाद प्रकृति और विकृति दोनोंको ग्रहण करसकता है, पर उसने विकृति को ही संप्रति अपना रखा है। यह उसका विकास-विरोधी स्वरूप है। नारी विषयक दृष्टिकोण की विवेचना करते हुए उन्होंने रहस्यवादी, छायावादी और आदर्शवादी धारणा से यथार्थवादी विचारणा का पार्थक्य स्पष्ट किया है। महादेवीजी का यह निरूपण अतिशय तलस्पर्शी है और इस मान्यता पर आधारित कि "कला और सौंदर्य, जीवन के परिष्करण और उससे उत्पन्न सामंजस्य के पर्याय हैं।" 'कला चिरंतन है' का अभिप्राय है कि वह क्रमागत है या अपनी ऐतिहासिक स्थिति रखती है; 'सौंदर्य सनातन है' का अर्थ है कि वह अस्तित्ववान् है, नया उत्पादन नहीं; तथा 'सत्य शाश्वत है' का आशय है कि वह जीवन-चेतना की क्रमबद्धता है, उसका दिक्काल-परिबद्ध रूप नहीं। महादेवीजी इसी व्यापक दर्शन के आधार पर समसामयिक साहित्य की प्रवृत्तियों का पर्यवेक्षण करती हैं; पर्यवेक्षण ही नहीं, संपूर्ण विश्वास के साथ उसकी सीमाओं का निर्देश तथा विकृतियों का खंडन करती हैं। यहीं उन्होंने प्रसंगतः बुद्धिजीवियों की विसंगतियाँ दिखाई हैं, जिनमें विद्यार्थी और शिक्षक वर्ग मुख्य हैं। उन्होंने नए कलाकारों और आलोचकों की स्थिति का परीक्षण भी किया है। 'मजदूर-कला' तथा 'राज-कला' आदि से संबंधित समलेखन के विवादों की व्यर्थता भी उन्होंने सिद्ध की है। अंततः उनका निर्देश है कि "इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्न-द्रष्टा हो या यथार्थ

का चित्रकार, अध्यात्म से बंधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही मार्ग शेष है कि वह अध्ययन में मिली चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी संपूर्ण संवेदना-शक्ति के साथ जीवन में घुल-मिल जावे।" यहां आलोचक महादेवीजी को कला का श्रेय रूप, कल्याणकारी पक्ष या शिवत्वका प्रतिपादन करने की आवश्यकता अनुभव हुई है। मैं कहूंगा कि यह सब नई काव्य-रचना के संबंध में कहा गया है। कवि महादेवी का इन समस्याओं से साबका नहीं पड़ा। निश्चय ही यह विवेचन उनके छायावादी काव्य-चिन्तन पर आधारित है। यहां उनकी सैद्धांतिक मान्यताएँ प्रायः वे ही हैं, पर रहस्यवादी विवरणों के स्थान पर यहां प्रत्यक्ष जगत् और व्यक्त जीवन ही नहीं, मानवीय सत्य और सामाजिक कल्याण का अंतर्भाव भी कर लिया गया है। अंततः कला सौंदर्य ही है या सौंदर्य की संवेदना है, जो अब व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा बन गई है। महादेवीजी के काव्य-चिन्तन में सामाजिक तत्वों का प्रवेश संभव हुआ है और वे अधिक परिपूर्ण दृष्टिकोण उपस्थित कर सकी हैं। उनके काव्य की एकान्तिकता यहां आकर लोकाभिमुख दिखाई पड़ी है। यह अलग बात है कि उनके विचार इतने व्यापक हों कि वे परमात्मा की भांति पकड़ के बाहर रहें, पर यहां उन्होंने स्पष्टतापूर्वक अपनी धारणा को प्रकट किया है।

समस्याओं के प्रसंग में वे एक सारगर्भित बात कह गई हैं, जो इस प्रकार हैं— "छायावाद एक प्रकार से अज्ञात कुलशील बालक रहा, जिसे सामाजिकता का अधिकार ही न मिल सका। फलतः उसने आकाश, तारे, फूल, निर्झर, आदि से आत्मीयता का संबंध जोड़ा और उसी संबंध को अपना परिचय बनाकर मनुष्य के हृदय तक पहुंचने का प्रयत्न किया। आज का यथार्थवाद बुद्धि और साम्यवाद का ऐसा पुत्र है, जिसके आविर्भाव के साथ ही, आलोचक जन्म-कुंडली बना-बनाकर उसके चक्रवर्तित्व की घोषणा में व्यस्त हो गए।" इस आवतरण के दो पहलू हैं। छायावाद-विषयक निर्देश केवल महादेवीजी के काव्य पर अक्षरशः घटित हो पाता है, अन्य किसी छायावादी कवि पर नहीं। प्रसाद, निराला और पन्त की स्वच्छन्द जीवनानुभूतियां सामाजिक चेतना से रिक्त नहीं हैं। प्रकृति और कल्पना का विनियोग अन्य कवियों के काव्य में अंशतः हुआ है और वह भी सौन्दर्य के उपादान या विधान के हेतु। इसमें सत्य यही है कि छायावादी काव्य में अतीन्द्रियता के परमाणु अपेक्षया अधिक हैं। दूसरा पक्ष यथार्थवाद की खामियों को लक्षित करता हैं। यह मन्तव्य ठीक उसी प्रकार की मनस्थिति को विज्ञापित करता है, जैसी मनस्थिति नए प्रभावों को स्वीकार न करनेवाले पुराने संस्कारों को ग्रहण न करने वालोंके प्रति प्रकट करते हैं। मैं यह नहीं कहूंगा कि महादेवीजी उत्तर-छायावादी काव्य के प्रति असहृदय हैं, पर यह तथ्य है कि वे उसे जीवन-विकास की दृष्टि से विघटनकारी वस्तु मानती हैं। वे सूक्ष्म के एक अतिवाद पर स्थित थीं, यह स्थूल का दूसरा अतिवाद है। सम्भवतः अध्यात्म और पदार्थ या सूक्ष्म और स्थूल का समन्वित संतुलन ही मानवीय पूर्णता का लक्षण है। महादेवीजी भी सामा-

जिकता की बात कहती हुई इसी आधार को पूर्ण करने के लिए सचेष्ट हैं। उनकी अपनी पूर्णत्व की धारणा बहुत-कुछ काल्पनिक और अपार्थिव ही रही है। यह उसी का नया विकास है, यथा—"यदि पहले मिली सौंदर्य-दृष्टि और आज की सौंदर्य-सृष्टि का समन्वय कर सकें, पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली सूक्ष्म चेतना की व्यापक मानवता में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें तो जीवन का सामंजस्य-पूर्ण चित्र दे सकेंगे।"

महादेवीजी ने आदर्श और यथार्थ-विषयक अपने चिन्तन को भी प्रकट किया है। वे इन्हें प्राण और शरीर की तरह समन्वित करती हुई कहती हैं कि "वह यथार्थ जिसके पास आदर्श का स्पंदन नहीं, केवल शवमात्र है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं प्रेतमात्र है।" अतएव आदर्श और यथार्थ "एक-दूसरे के पूरक रह कर ही जीवन को पूर्णता दे सकते हैं, अतः काव्य उन्हें विरोधियों की भूमिका देकर जीवन में एक नई विषमता उत्पन्न करता है, सामंजस्य नहीं।" स्पष्टतः महादेवीजी यहां छायावादी समीक्षक, रहस्यवादी कवि, मानववादी निबंधकार, प्रभृति अपने रूपों को समन्वित करती हुई आदर्श और यथार्थ, भाव और वस्तु या आत्म-दर्शन और पदार्थ-विज्ञान के एकीकरण पर बल देती हैं। महादेवीजी यहां स्वच्छन्द विचारक हैं, किसी विशेष दार्शनिक पद्धति की अनुगामिनी नहीं। इसीलिए उन्हें पूर्णतत्व का उद्भावक अथवा संतुलन का आविष्कारक समझना चाहिए। उनकी विचारणा न एकांगी है, न सत्य को खंडित करने की अभ्यासी। अतएव यथार्थ की सापेक्ष सीमाएँ अथवा खंडत्व और आदर्श का निरपेक्ष सत्य या अखंडत्व अन्योन्याश्रित समझे गए हैं। यह सम्बन्ध न सतही वस्तु है, न उसकी क्षणिक सत्ता है। निश्चय ही ये उद्गार आदर्शवादी विचारक के हैं, यथार्थवादी कलाकार के नहीं। इसी कारण यह निष्कर्ष—"आदर्श को संकीर्ण अर्थ में न ग्रहण करके यदि हम उसे जीवन की एक व्यापक और सामंजस्यपूर्ण स्थिति का भावनामात्र मान लें, तो वह हमारे एकांगी बुद्धिवाद और बिखरे यथार्थ को संतुलन दे सकता है"—अनिवार्य ज्ञात होता है। यहाँ 'सामंजस्य' और 'संतुलन' शब्द विचारणीय हैं। इन्हीं के माध्यम से आदर्शवादी यथार्थवाद को स्वीकार कर पाता है। यह परिपूर्णता की कल्पना तो है ही; इसे व्यावहारिक समझौता भी कहा जा सकता है। छायावादी काव्य-चिन्तन के अन्तर्गत सामाजिक या यथार्थवादी तत्वों का आकलन वस्तुतः उसके ही मंतव्यों को वस्तुगत आधार देता है और सापेक्षिक पूर्णता के सिद्धान्त को चरितार्थ करता है। कतिपय आलोचकों ने छायावादी समीक्षा-पद्धति को वस्तुनिष्ठ आधार और सामाजिक आशय देने की समर्थ चेष्टा की है। कहना न होगा कि महादेवीजी के काव्य में इस प्रकार के संतुलित सामंजस्य का कोई प्रयास नहीं दिखाई पड़ा।

उपयोग की कला और सौंदर्य की कला का उल्लेख करते हुए महादेवीजी ने उपयोगितावाद को सार-हीन काव्य-सिद्धान्त कहा है। उनका मंतव्य है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत् का बाह्य जीवन में पग-पग पर उपयोग होता रहेगा, तब तक

कला का उपयोग-संबंधी विवाद विशेष महत्व नहीं रखता। "कला न स्थूल में निर्वासित हो सकती है, न सूक्ष्म में, क्योंकि उसकी भी जीवन की भांति समन्वयात्मक स्थिति है। वे उपयोग कीनिम्नोन्नत भूमियों को स्पष्ट करती हुई द्विवेदीयुगीन उपयोगितावाद तथा यथार्थवादी उपयोगिता के सिद्धान्त की सीमाओं का निर्देश करती हैं। वे कलाओं को उपयोग की उस भूमि पर स्थायी रूप से स्थापित करती हैं, जहां उपयोग सामान्य रह सके। वस्तुतः यह उपयोग नहीं, आस्वादन है, आदेश-उपदेश नहीं, सौंदर्य की संस्कारिता है। महादेवीजी कला की उपयोगिता का जो अभिप्राय ग्रहण करती हैं, वह उपयोग के गृहीत अर्थ को अपार्थिव भूमिका देता है। यहां उपयोग संवेदना है और भलाई संस्कार। यह विधि निषेध नहीं है, वल्कि अन्तर्जगत् की स्फूर्ति है, जिसके कारण जीवन की गति उत्प्रेरित होती है। महादेवी ने कलावादी विचारणा को जीवन की संगति अवश्य दी है, पर वे उसे आदर्शवादी या यथार्थवादी की स्थूल उपयोगिता का पर्याय नहीं मान सकी हैं। उनके छायावादी काव्य-चिंतन के अन्तर्गत कला तत्व ही जीवन की सबसे बड़ी उपयोगिता वन गया है। वस्तुतः यह अंतःकरण का परिष्कार ही है, जो सत्य के अनुशीलन और सौंदर्य के साक्षात्कार का परिणाम है। आशय स्पष्ट है कि कला कला है, जीवन का चरम मूल्य है; उसे किसी आवश्यकता की नाप या उपयोगिता की भाप के अनुसार न गढ़ा जा सकता है, न उसकी परिचयी तैयार हो सकती है। इसी कारण उनकी दृष्टि में "जीवन में कविता का वही महत्व है, जो कठोर भित्तियों से घिरे कक्ष के वायुमंडल को अनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायुमंडल से मिला देने वाले वातायन को मिला है।" वे कविता और कला को छायावादी सौष्ठव से संपन्न और आदर्शवादी निष्ठा से व्युत्पन्न समझती हैं। उन्होंने काव्य-कला को जीवन का व्यापक अभिप्रेत ही नहीं दिया, उसे स्वानुभूति की गरिमा और सौंदर्य-बोध का वैभव भी प्रदान किया। महादेवीजी की काव्य-सृष्टि और उनके काव्य-चिन्तन में यहां बिंब-प्रतिबिंब भाव विद्यमान हैं। उन्होंने 'सप्तपर्णा' और 'हिमालय' की सुगठित और सुचिंतित भूमिकाओं के अन्तर्गत भारतीय जीवनके रागात्मक विकास के अमिट-चरण-चिह्नों का विवेचन किया है। साहित्य हृदय का परिष्कार करता है और जीवन के सांस्कृतिक विकास को प्रत्यक्ष। किसी भी सांस्कृतिक मूल्य के वस्तुगत उपयोग की मांग का महत्व ही क्या है ? वह महत् आकांक्षा का विपर्यय मात्र है। महादेवीजी काव्य के सांस्कृतिक मूल्य को ही स्वीकार करती हैं, वस्तुवादी उपयोगिता के सिद्धान्त को नहीं।

: ५ :

अब हमें गीतिकाव्य, छायावाद और रहस्यवाद-विषयक मंतव्यों की परीक्षा ही करनी है। महादेवीजी गीत को 'सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था-विशेष' की अभिव्यक्ति मानती हैं और उसे 'गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना का उपयुक्त चित्रण' कहती हैं। गीत की मर्मस्पर्शिता का कारण है वैक्तिक सुख-दुःख की व्यंजना। आशय यह है कि

गीत का विषय सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही है। वह भावावेगमयी अवस्था को लिए हुए है और उसकी सीमा व्यक्ति-विशेष तक ही है। गेयता उसकी शिल्पगत विशेषता है, जो उपयुक्त स्वर-साधना ही नहीं है, गिने-चुने शब्द-समूह का विशिष्ट विन्यास भी है। यहां महादेवीजी वैयक्तिक अनुभूति को उपयुक्त शब्द-योजना और सार्थक स्वर-साधना से समन्वित करती हैं। उनकी गीतिकाव्य की यह परिभाषा संक्षिप्त और सार्थक है कि "साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।" निश्चय ही उनका गीतिकाव्य वैयक्तिक है, विरहानुभूति से अनुप्राणित है, अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय है, पर वह तीव्र या भावावेगपूर्ण भी है, यह नहीं कहा जा सकता। वे आवेगमयी गीतकार हैं ही नहीं। वैचारिक गांभीर्य और नारीत्व का आत्म-संयम वैयक्तिक भाव-धारा का ऐसा बांध है, जो उसके प्रवाह को उन्मुक्त नहीं होने देता। गीत की आरम्भिक कड़ी में कहीं-कहीं आवेश का स्वर झंकृत होता है, पर प्रतीक-व्यंजना उसके स्वाभाविक विकास में बाधक सिद्ध होती है। दर्शन की छाया में रचे गए गीतों के भीतर भावों की बाढ़ स्वभावतः विरल होती है। उसमें स्थिर, गंभीर तथा मंथर गति की ही अपेक्षा हो सकती है। गेयता के संबंध में निवेदन है कि ये साहित्यिक गीत हैं, रागों या रागिनियों में रचे गए पद नहीं, इनमें संगीत का तत्व है। अवश्य, पर वह प्राथमिक विशेषता नहीं है। यहाँ मुख्य वस्तु है कवि का भावाशय, अतः संगीत का मूल्य औपचारिक है। यह समृद्ध कला-सृष्टि भी है, अतएव अर्थ और ध्वनि में प्रायः एकता और सामंजस्य विद्यमान है।

गीतिकाव्य में तार्किक ज्ञान नहीं, सहज ज्ञान की अवस्थिति को लक्षित करती हुई महादेवीजी कहती हैं कि "तर्क से परे इन्द्रियों की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, उसकी अभिव्यक्ति में गेय स्वर-सामंजस्य का विशेष महत्त्व रहा है।" यहां वे शुष्क ज्ञान से पृथक् सहज बोध का निर्देश करती हैं। आत्मा को मन या अंतर्जगत् मान लेने से इस वक्तव्य की बोधव्यता बढ़ जाएगी। भाव स्थिति स्वतः अमूर्त व्यापार है, पर उसे सत्य का संवेद्य या स्वाभाविक ज्ञान बौद्धिक आधार भी देता है। यह सहज ज्ञान एक ओर भावमय या सरस बना रहता है और दूसरी ओर वाणी को भाव-प्रलाप मात्र बनने नहीं देता। अतः गीति-काव्य मानव-संस्कृति का उच्चार हो जाता है। उसकी उच्चतर साहित्यिक स्थिति का यही रहस्य है। इसी कारण वह न आलाप मात्र है, न प्रलाप मात्र। वह सजग किन्तु मधुर संलाप है। निश्चय ही महादेवीजी का गीतिकाव्य गंभीर मनोदशा, सुसंस्कृत व्यक्तित्व और समृद्ध शब्द-संकेतों तथा अर्थ-ध्वनियों का व्यक्तिकरण है।

उन्होंने साहित्यिक गीतों को लोकगीतों से भिन्न वस्तु अवश्य माना है, पर दोनों के मूल में एकसी प्रवृत्तियों की अवस्थिति स्वीकार की है। गीत प्रकृत्या मानवीय सुख-

दुःख के उद्‌गार हैं, अतएव लोकगीत और साहित्यिक गीत में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। दोनों की भाषा, भाव और छंदों के भीतर साम्य के सूत्र मौजूद हैं। साहित्यिक गीतों में चिंतन, कल्पना या रचना-संबंधी समृद्धि और तज्जन्य सूक्ष्म व्यंजना-व्यापार संभव होता है, पर लोकगीतों में मानवीय अनुभूतियां अपने प्रकृत रूप में अभिव्यक्त होती हैं। महादेवीजी ने इन लोक-गीतों का आकर्षण अनुभव किया है और कहा है कि 'मेरे गीत अध्यात्म के अमूर्त आकाश के नीचे लोकगीतों की धरती पर पले हैं।' महादेवीजी का गीतकाव्य लोक-गीतों से कदाचित् समुचित प्रेरणा नहीं ले पाया। यह मात्र आकर्षण है, जिसका यहां उल्लेख हुआ है, कोई सुनिश्चित प्रभाव नहीं।

वे रहस्य-गीतों के विषय में कहती हैं कि उनका 'मूलाधार भी आत्मानुभूत अखंड चेतन है।' आत्मानुभूत ज्ञान ही गीतिकाव्य की प्रकृति में अन्तर्भुक्त हो पाता है। रहस्य-गीतों के अन्तर्गत ज्ञान इतना प्रत्यक्ष नहीं हो पाता कि वह बुद्धि की परिधि में आ जाए और भाव इतना सूक्ष्म और अव्यक्त नहीं हो पाता कि वह हृदय की सीमा में न आ पाए। यहीं रहस्य और गीत के मूलतत्व एकान्वित होते हैं। "रहस्य-गीतों में आनन्द की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुंचते हैं।" महादेवी जी ने न केवल ज्ञान और भाव को चिंतन की भूमि पर एकत्र किया है, वरन् सौन्दर्य के माध्यम की वात भी कही है। वस्तुतः रहस्य-गीत भावात्मक परिपूर्णता के सोपान हैं। भावात्मक या आभ्यंतर पूर्णता का अभिप्राय यह है कि रहस्यानुभूति वस्तुतः एकान्तिक है, लोक-संग्रही नहीं। निश्चय ही महादेवीजी के गीतों की भी यही विशेषता है। उनके काव्य की आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि है अवश्य, पर वह धार्मिक रूढ़ियों का नहीं, दार्शनिक मनोवृत्ति का परिणाम है। यह दार्शनिक वृत्ति अंततः व्यक्तिगत चेतना है, जिसे अध्ययन, मनन और निदिध्यासन के अतिरिक्त बाह्य प्रभावों ने भी संगठित किया है।

: ६ :

महादेवी जी का चिंतन चिरंतनता और सनातनता तथा व्यापकता और पूर्णता को लिए हुए है, अतएव प्रत्येक विषय अथवा कविता की धारा, प्रवृत्ति या विधा के अन्तर्गत वे इसी का संधान करती हैं। छायावाद को उन्होंने इसी व्यापक आधार पर निरूपित किया है। अवश्य ही उसे उदात्त पृष्ठ-भूमि दी जा सकी है। विचारकों ने छायावाद के सांस्कृतिक भाव-बोध का विवरण दिया है, पर महादेवीजी ने उसे दार्शनिक चेतना का प्रसार ही माना है। वे समझती हैं कि छायावाद ने मूर्त और अमूर्त विश्व को समन्वित करके उसे पूर्णता प्रदान की है। वे छायावाद के आविर्भाव का कारण कविता के बंधनों से मुक्त होने की प्रवृत्ति में खोजती हैं। जिस स्वच्छंदता की प्रवृत्ति में उसका जन्म हुआ, उसे कवयित्री ने न चिंतन में, न अपने काव्य में महत्वपूर्ण वस्तु माना।

कदाचित् वे उक्त प्रतिक्रिया को मूलतत्व के रूप में स्वीकार ही नहीं कर पाई। इसका प्रमुख कारण यह भी है कि नारी की सामाजिक सीमाएँ तथा उसकी नैतिक मर्यादाएँ उसे इस प्रकार की स्वच्छन्दता का अवकाश ही नहीं देतीं। अतएव आत्मानुभूति की व्यंजना को मुख्य वस्तु मानती हुई वे स्वच्छंदता को 'स्वच्छंद छंद' में ही सीमित कर लेती हैं। व्यक्तिगत सुख-दुःख ही छायावाद के उत्स हैं, जो अभिव्यक्ति के लिए आकुल रहे हैं। अतः छायावादी कविता 'स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम' बनी। वेइसका प्रमुख दूसरा तत्व 'प्रकृति की सौंदर्यचेतना' को मानती हैं, जिसके कारण अनेकरूपों में प्रकट एकरूपता महाप्राण बन जातीहैं। फलतः "मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।" यहां सर्ववादी मान्यता स्पष्ट हुई है। यह छायावाद का मूल दर्शन नहीं है। प्रकृति पर चेतना का आरोप विशुद्ध दार्शनिक वस्तु है, यह नहीं कहा जा सकता। प्रकृति की सचेतनता मानवीय भावाक्षेप या मानवीकरण की अलंकारिक प्रवृत्ति का परिणाम भी है। उसे चेतनता का आभास देनेवाला रूपक कहा जा सकता है। वस्तुतः प्रकृति अपने सौन्दर्य और मानव-सापेक्ष अस्तित्व के कारण छायावाद में महत्वपूर्ण स्थान पा सकी है। उसे परिव्याप्त चेतना का प्रतिबिंब मानने की प्रायः आवश्यकता नहीं पड़ी। महादेवीजी के काव्य में प्रकृति को सर्वत्र यही दार्शनिक आशय नहीं दिया गया। वह प्रतीक और अलंकरण भी है, दिव्य चेतना का व्यक्तिकरण ही नहीं। महादेवीजी प्रकृति को अपने भावात्मक दृष्टिकोण के कारण कल्पनाशील सौंदर्य से मंडित करती रही है। उनका वक्तव्य है कि छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है, न अपने जीवन को, क्योंकि वे दोनों ही विराट् रूप-समष्टि में स्थिति रखते हैं और एक व्यापक जीवन से स्पंदन पाते हैं। प्रकृति जीवन का रूप-दर्शन है और जीवन प्रकृति का भावाकाश। यह विचारणा नितांत वैयक्तिक और काल्पनिक कही जाएगी। संपूर्ण जगत् में एक ही सत्ता की व्याप्ति अनुभव करना जितना दार्शनिक अभिप्रेत है, उतना स्वानुभूत तत्व नहीं। छायावादी कविता में व्यष्टि और समष्टि का ऐसा एकीकरण संभव नहीं हुआ। इसे उसका लक्ष्य या आदर्श अवश्य कह सकते हैं जो उसकी कल्पनाशील प्रवृत्ति को लक्षित करता है। अतएव महादेवीजी छायावाद को प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ कहती हैं। प्रकृति पर आधारित यह काव्य स्वभावतः कल्पनाओं की बहुरंगी और विविधरूपी सूक्ष्म रेखाओं से निर्मित हुआ। निश्चय ही महादेवी जी का काव्य कल्पनाशील है, पर दार्शनिक निरूपणों के कारण उनकी यह प्रवृत्ति स्वतंत्र वस्तु नहीं है, परोक्ष सत्य का अपरोक्ष माध्यम है। प्रकृत छायावादी अनुभूति प्रायः प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करती है, पर महादेवीजी के लिए वह मात्र रहस्य का व्यक्तिकरण है।

महादेवी जी इस मत का विरोध करती है कि छायावाद संघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन है, क्योंकि उसके निर्माण-युग में मध्यवर्गीय चेतना का अभिजात्य मुखरित था,

जिसमें सामाजिक क्षोभ और सांस्कृतिक असंतोष के तत्व वस्तुतः सम्मिलित नहीं हो पाए थे। छायावाद भौतिक अस्तित्व की समस्याओं को अंतर्भुक्त नहीं करता। ये उस युग की अनिवार्यताएँ नहीं हैं। प्रसाद, निराला और पंत ने एक सीमा तक प्रत्यक्ष जीवन की चेतना आत्मसात् की थी, पर महादेवी जी उससे असंपृक्त रहीं। वे स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की अभिव्यक्ति का निर्देश करती हैं। वे समझती हैं कि "छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ था। अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिये संभव न हो सका। परन्तु उसकी सौंदर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर लेना है।" महादेवी जी सूक्ष्म या सांकेतिक चित्रणों के अतिरिक्त स्थूल को सूक्ष्म सौंदर्य-बोध का आधार तक स्वीकार कर लेती हैं। इस दार्शनिक परिणति को महादेवी जी उस सीमा तक स्वीकार करती रहीं कि उनका काव्य रहस्यवाद के क्षेत्र की वस्तु बन गया। उन्होंने छायावाद को अपने प्रिय दर्शन का मात्र सोपान बनाया। उनकी वैयक्तिक अनुभूति स्वाभाविक मनोभावना न रह कर परिष्कृत और उदात्तीकृत रहस्य-जिज्ञासामयी प्रणय-भावना बन गई। मैं समझता हूं कि स्वाभाविक मानवीय अनुभूतियों का काव्यश्रेष्ठ नहीं होता। महादेवी जी का सूक्ष्मतावादी दर्शन चरम-कला-कोटि नहीं है। अवश्य ही उनका काव्य अपने आंतरिक गुणों के कारण श्रेष्ठ है, उपर्युक्त तत्वज्ञान के कारण नहीं।

महादेवी जी के अनुसार छायावादी अभिव्यंजना की सांकेतिकता का कारण भाव को रूपायित करने की आवश्यकता है। वे छंद को भाषा के सौंदर्य की सीमा कहती हैं और इसीलिए नई छंद-योजना का समर्थन कर सकी हैं। शब्द-शोधन की कला उन्हें इसलिए आवश्यक जान पड़ी कि सूक्ष्म भाव-बोध को अभिव्यक्ति देनी थी। अतएव "प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट-छाँट कर तथा कुछ नए गढ़ कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं का कोमलतम कलेवर दिया" गया। यहां खड़ी बोली के पदावली-संस्कार, छंद-निर्माण और संकेत-पद्धति की काव्य शैली का अभिनव कौशल स्पष्ट किया गया है। महादेवी जी एक सचेत कलाकार रही हैं और इन क्षेत्रों में उन्होंने नवीन काव्याभिव्यंजना के शिल्प को यत्नपूर्वक संवारा है। उनकी शैली में तरलता और मार्दव इसी कारण आ पाया है। छायावादी काव्य में उनकी शैली सर्वाधिक सांकेतिक है, जिसे प्रतीक-पद्धति का नव्य रूप समझना चाहिए।

छायावाद के पराभव के कारणों पर महादेवी जी ने टिप्पणी की है। वे कहती हैं कि छायावाद सौंदर्य-लोक की वस्तु है, प्रत्यक्ष जीवन की नहीं, इसीलिए वह अपूर्ण है। वह एक भावात्मक दृष्टिकोण है, बौद्धिक विश्लेषण नहीं। परवर्ती दृष्टिकोण भी अपूर्ण है, क्योंकि वह बौद्धिक है। जीवनानुभूति की न्यूनता से संयुक्त कल्पनातिशायी प्रवृत्ति को उन्होंने छायावाद के ह्रास का कारण माना है। यही उनके काव्य की सीमा का निदर्शन है। वे भावात्मक पूर्णता की बात कहती भी आयी हैं। वस्तु और भाव, सौंदर्य

और जीवन तथा बुद्धि और हृदय का एकीकरण ही संभवतः पूर्णता है । छायावाद को यथार्थ रूप में ग्रहण ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सुनिश्चित आध्यात्मिक रूढ़ियों अथवा वर्गीकृत सिद्धांतों का संचय नहीं है, बल्कि वह व्यक्ति और स्वच्छंद विचारों का निरूपण है । महादेवी जी ने इन सीमाओं या ह्रास के कारणों का वस्तुनिष्ठ विवेचन किया है । यह अत्यंत साहस का कार्य है, क्योंकि अंततः यह अपने रचनाकार्य का ही सीमोल्लेखन है । यह वक्तव्य सारवान् और तथ्यपूर्ण है ।

अस्तु "प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, कल्पनाओं की समृद्धि, स्वानुभूत सुख-दुःखों की अभिव्यक्ति" को परस्पर सापेक्ष कहा गया है । ये ही छायावाद की मुख्य प्रवृत्तियां हैं । महादेवी जी छायावाद को "करुणा की छाया में सौंदर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद कहकर" उसकी उपयोगिता को सिद्ध करती हैं । वे प्रकृत अनुभूति को अपरोक्ष अनुभूति की रहस्यमयता से मंडित करती हैं, यथा "छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से आधुनिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है ।" वे अपने इसी चिंतन-क्रम के कारण छायावाद को अतिव्याप्त करती हुई उसे रहस्यवाद की समकक्षता प्रदान करती हैं, यथा—"बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखंडता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी हुई सौंदर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद और अनेक नामों का भार सम्हाल सकी ।" यहां छायावाद युग विशेष की काव्य-प्रवृत्तियों का परिचायक शब्द-संकेत मात्र है । वस्तुतः छायावाद के अंतर्गत अध्यात्म की प्रवृत्ति अवसित रही है, पर वह यत्र-तत्र ही प्रकट हुई है । उसे मूल प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता । महादेवी जी ने अपने काव्य की विवेचना के रूप में ही कदाचित् छायावाद और रहस्यवाद को एक-दूसरे का पूरक माना है । एक सौंदर्य का दर्शन है, दूसरा सत्य का अन्वेषण । वास्तविकता यह नहीं है । महादेवी जी रहस्यवादी कवयित्री हैं, पर उनके काव्य में छायावादी काव्य प्रवृत्तियाँ भी, यथा—प्रकृति, प्रेम, सौंदर्य-कल्पना, स्वानुभूति, आदि सुविन्यस्त हैं । मैं समझता हूं कि महादेवी जी का साध्य रहस्यवाद है और साधन छायावाद । ये जैसे पूर्ण या निरपेक्ष सत्य और उसके सौंदर्य रूपी माध्यम के पर्याय ही हैं अथवा ये स्थायी भाव और उसकी अभिव्यंजना के प्रतिरूप हैं । इस प्रक्रिया के कारण ध्वन्यार्थ को चाहे कि जितनी रमणीयता प्राप्त हो जाए, पर बेचारे वाच्यार्थ का सौंदर्य सुरक्षित नहीं रह पाता । महादेवी जी के काव्य में छायावाद का मूल चारुत्व नहीं है, क्योंकि उसे काव्य-पद्धति के रूप में अपनाया गया है, स्वतंत्र सौंदर्य-बोध या भाव-चेतना के रूप में नहीं ।

: ७ :

महादेवी जी ने रहस्यवाद का भी स्वरूप-विवेचन किया है । दो महायुद्धों के बीच छायावाद और रहस्यवाद एक-दूसरे पर आश्रित चाहे रहे हों, पर उनमें पार्थक्य भी है ।

उनके अनुसार "जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया, जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस संबंध में मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानव-संबंधों में जब तक अनुरागजनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता, तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती, तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना, इस काव्य का दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।" महादेवी जी के प्रणय-मूलक आत्मनिवेदनात्मक गीतिकाव्य का यह तात्विक स्पष्टी-करण है। वे रहस्यवाद के दार्शनिक या बौद्धिक अथवा साधनात्मक रूप को अकाव्योचित समझती हैं। रहस्यवाद का रागात्मक स्वरूप ही उनका अभीष्ट है। उनका कथन है कि अखंड चेतन से तादात्म्य का रूप रहस्यानुभूति में हृदय का प्रेय हो जाता है, वह बुद्धि का ज्ञेय ही नहीं रहता। अतएव "रहस्यवादी का आत्म-समर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौंदर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है, अतः उसमें सत् और चित् की एकता में आनन्द सहज संभव रहेगा।" सत्, चित् और आनंद की पूर्णता ही नहीं, स्वयं रहस्यवादी की परिपूर्णता भी संभव है, क्योंकि मूर्त जगत् का यथार्थ-दर्शी अमूर्त जगत् का यथार्थदर्शी, अमूर्त जगत् का रहस्य-द्रष्टा बनकर ही पूर्णता प्राप्त करता है। महादेवी जी रहस्यवाद को जीवन का पूर्णत्व मानती हैं। अखंड और व्यापक चेतन के प्रति आत्म-समर्पण अवश्य संभव है, क्योंकि रहस्यात्मक कृतियाँ उसका प्रमाण हैं। रहस्यानुभूति अलौकिक होती है, पर उसकी अभिव्यक्ति लौकिक ही रहेगी यथा—"अरूप रूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों में ही तो संभव होगी।" यह व्यष्टिगत जीवन के परि-ष्कार और विकास पर निर्भर है कि अंतर्जगत् का समष्टिगत जीवन के साथ सामंजस्य स्थापित हो जाए। क्या कविता के लिये आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है? महादेवी जी के अनुसार इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही करेगी। वे समझती हैं कि "न वही काव्य हेय है, जो अपनी साकारता के लिये केवल स्थूल और व्यक्त जगत् पर आश्रित है और न वही जो अपनी सप्राणता के लिये रहस्यानुभूति पर।" उन्हें रहस्य-काव्य की संवेदनीयता के संबंध में कोई शंका नहीं है। हिंदी के आधुनिक रहस्य-काव्य के संबंध में उनकी टिप्पणी है कि "उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दांपत्य-भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-संबंध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलंबन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।" स्पष्टतः यह महादेवी जी की रहस्य-कविता के सूत्रों का ही विश्लेषण है। वे यह स्वीकार करती हैं कि यह वाद काव्य की रूढ़ि बना और अपनी अपा-र्थिव पार्थिवता तथा साधना की न्यूनता के कारण सहज ही सबको आकर्षित कर सका।

अतएव वह विकृत होता गया। अत्यंत स्पष्ट रूप में वे कहती हैं कि "रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।" वे रहस्यवाद को मनस्थिति और छायावाद को काव्य-कला समझती हैं और यहीं कला स्वतंत्र नहीं रह पाती। वे उसे आध्यात्मिकता या मूल जीवन-चेतना के उपयोग की वस्तु मानती आई हैं। इसे उन्होंने काव्य-क्षेत्र में व्यवहृत किया है। अतः महादेवी जी के रहस्य-विषयक विवेचन को विदग्ध और प्रामाणिक कहना चाहिये। यह उनकी काव्य-कला की केंद्रीय मनस्थिति का निर्वचन है। इसे आप्त-वचन माना जा सकता है।

: ८ :

महादेवी जी का काव्य-चिन्तन न केवल उनके सुसंस्कृत व्यक्तित्व और प्रबुद्ध विचारक का स्पष्ट निदर्शन है, बल्कि उनके काव्य को समझने में बड़ी दूर तक हमारा सहायक है। स्वयं महादेवी जी छायावाद-युग की प्रमुख, प्रतिष्ठित और प्रतिनिधि कवयित्री हैं, अतएव उनके विचार सिद्धान्तवाद के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। छायावादियों की प्रवृत्तियों में कतिपय साम्य के सूत्र उपलब्ध हुए हैं और उन्हीं के आधार पर उस युग की विवेचना की जाती रही है। अवश्य ही उनमें पर्याप्त अंतर मौजूद रहा है, पर वह उनकी वैयक्तिक विशेषताओं का परिचायक समझा गया है। महादेवी जी मूलतः अध्यात्मवादी या रहस्यवादी हैं, पर अन्य सभी छायावादियों की यही केंद्रीय मनस्थिति नहीं है। अतएव महादेवी जी की कतिपय मान्यताओं की सीमायें यहाँ देखी-पहचानी गई हैं। वे छायावाद को वैयक्तिक ही नहीं, आत्मवादी अभिप्रेत भी प्रदान करती हैं। स्पष्टतः यही मतभेद का कारण है। छायावाद के अंतर्गत सौंदर्य की स्वाभाविक अनुभूति ही प्रत्यक्ष हुई है। महादेवी जी उसे अमूर्त सत्य का माध्यम मात्र मान लेती हैं। कदाचित् इसे संपूर्ण युग के परिपार्श्व में प्रमाणित नहीं किया जा सकेगा। महादेवी जी का अध्ययन विषद् है, मनन-प्रक्रिया समुन्नत है और चिंतन-क्रम एकदेशीय नहीं है। रहस्यवाद और छायावाद के विकास-क्रम का उन्होंने परिश्रमपूर्वक प्रामाणिक निरूपण किया है। उनका दृष्टिकोण अतिशय व्यापक है और वे सर्वत्र शाश्वत या चिरंतन सत्य को अनुभव करने के लिये कृतसंकल्प हैं। पूर्णत्व की अपनी धारणा उन्हें अतिशय प्रिय है, जिसे स्थूल और सूक्ष्म, व्यष्टि और समष्टि, मूर्त और अमूर्त, हृदय और मस्तिष्क, सत्य और सौंदर्य, आदि के एकीकरण के रूप में निरूपित किया गया है। आशय यह है कि उन्हें पूर्णत्व का भी, शाश्वतलक्षी और असंकीर्ण द्रष्टा तथा आत्मवादी चिंतक समझना चाहिये। उनका आत्म-दर्शन क्रमशः सर्ववाद के रूप में उत्कर्षित हुआ है। वे भाववादी दृष्टा हैं और अध्यात्मवादी कवि। वस्तुवादी जीवन-दर्शन और यथार्थवादी काव्य के प्रति उनके मन में स्वभावतः संकोच का भाव विद्यमान है, पर उसे वे अपनी व्यापक विचार-सरणी में समंवित कर लेना चाहती हैं। अंततः वे सामंजस्यवादी दृष्टिकोण को अपना लेती हैं। यह उनके अपने ही सिद्धान्त का विस्तार या पल्लवन है। संक्षेप में, महादेवी जी का काव्य-चिन्तन

प्रौढ़ और सुसंयत है, सुचिंतित और कवित्वपूर्ण है। वह महादेवीजी के काव्य की अंतरंग परीक्षा का विशिष्ट प्रतिमान है। स्पष्टतः उसकी सीमाएँ वे ही हैं जो छायावादी काव्य समीक्षा की हैं। वह वैयक्तिक साहित्य-सिद्धान्त है और उसमें वस्तु-निष्ठता का अभाव है।

और महादेवी जी का काव्य आत्माभिव्यंजक गीतिकाव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है, जिसका मूलतत्व रहस्यवाद है और जिसकी काव्य-कला छायावाद की उत्कृष्ट उपलब्धियों से सुसंपन्न है। वह सर्वथा वैयक्तिक और अलंकृति-पूर्ण गीति-काव्य होने के कारण कदाचित् सहज संवेद्य नहीं है, कम से कम संक्रामक तो नहीं ही है। पर यह गीति-कला विशिष्ट है और समृद्ध भी। महादेवी जी के गीति काव्य का विशिष्ट व्यक्तित्व है, जो अपने पृथक् सौंदर्य के कारण महत्वपूर्ण उपलब्धि बन गया है।

उनकी गीति-रचना का परिचय प्रायः "मैं नीर-भरी दुख की बदली" उक्ति द्वारा दिया जाता है। पर यह युक्ति-युक्त नहीं है। वे "तुम हो विधु के बिम्ब और मैं मुग्धा रश्मि अजान" से चलकर 'बीन भी हूं, मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं' की स्थिति को प्राप्त करती हैं। "है तुझे अंगार-शय्या पर मृदुल कलियां बिछाना" —कालान्तर में ही वे कह पाती हैं। उनकी 'पंथ होने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला' की हठ न केवल 'सब आँखों के आंसू उजले, सबके सपनों में सत्य पला' का अनुभव करती हैं, बल्कि समझती हैं कि 'अलि मैं कण-कण को जान चली, सब का क्रन्दन पहचान चली'। महादेवी जी के भाव-विकास के ये कतिपय इंगित हैं। वे केवल अश्रुमुखी वियोगिनी नहीं हैं, वे रहस्यवादी भी हैं, अतएव वे 'रात के उर में दिवस की चाह का शर' हैं। जिन्हें महादेवी जी की रहस्यानुभूति पर संदेह है, वे उसे आरोपित वस्तु मान सकते हैं, पर विगत चालीस वर्ष की गीति-रचना और चिंतन-सृष्टि में एक-निष्ठ रह पाने की उनकी शक्ति की प्रशंसा उन्हें भी करनी चाहिये। जो आलोचक संत काव्य की नई आवृत्ति न देखकर निराश हुए हैं और महादेवी जी के रहस्यवाद को मृगचर्म समझते रहे हैं, उन्हें किसी उत्तर की अपेक्षा ही नहीं है। यह सामान्य नियम है कि प्रतिभा नवनवोन्मेषशील होती है, वह आवर्तन नहीं करती, निर्माण करती है और यह नव्यता प्रत्येक युग की काव्य-कला को नई अंग-संगति और नवीन भाव-भंगिमा से मंडित करती है। महादेवी जी का लक्ष्य सुस्पष्ट है और पथ सुनिश्चित। वे कहीं भटकी नहीं, उन्होंने कहीं अपना मार्ग नहीं बदला और वे निरंतर 'जाग तुझ को दूर जाना' उक्ति का अनुसरण करती रहीं।

अस्तु, महादेवीजी छायावाद-युग की रहस्योन्मुखी कृति कवि और अंतर्मुखी सुधी काव्य-चिंतक हैं और उनके ये दोनों रूप अविरोधी हैं। गीति-सीमा के अंतर्गत जो कुछ वे स्पष्ट नहीं कर पाईं, उसे वे समीक्षात्मक निबंधों में निरूपित कर सकी हैं। इन्हें अवश्य ही काव्य लक्षण और उसके उदाहरण नहीं कह सकेंगे। यहाँ गीति-रचना कवि-कर्म है और

काव्य-चिंतन अध्ययन-मनन का परिणाम। ये भूमिका या स्पष्टीकरण हैं, लक्षण-निरूपण नहीं। वे आलोचकों द्वारा किये गये आरोपों के उत्तर भी नहीं हैं। महादेवी जी की यह महान उपलब्धि है कि उनके काव्य, तत्व-चिंतन और साहित्य-समीक्षण में कोई बाह्य या आभ्यंतर विरोध नहीं है। इसका कारण यह है कि उनका व्यक्तित्व टूटा हुआ, अस्तव्यस्त अथवा मुखौटा-धारी नहीं है। वह अतिशय सचेत और सुसंगठित है। प्रसादजी के शब्दों को उधार लूं तो मैं कहूंगा कि उसमें इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल गये थे। कथनी, करनी और रहनी की यह एकता, जो रचना, विचार और जीवन के रूप में अविरोधी जान पड़े, कोई सामान्य विशेषता नहीं है। महादेवी जी के लेखन की सचाई और उसके स्थायित्व के संबंध में इसी कारण हमें निःशंक होना चाहिये।

१३

माखनलाल जी का बलिदानवाद

: १ :

दादा पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की कविता मात्र भावोच्छवास या प्रवृत्ति विशेष का अनुवर्तन नहीं है। उसका अपना प्रथक् व्यक्तित्व है। उसे कभी राष्ट्रीय मनोभावना की कविता कहा गया, कभी छायावादी प्रवृत्ति की कविता माना गया और कभी वैष्णव संस्कारों की रचना समझा गया। वस्तुतः वह बीसवीं शताब्दी की संवेदनशील भारतीय चेतना की अभिव्यक्ति है। चतुर्वेदीजी प्रखर संवेदनशीलता के कवि हैं। उनकी भावधारा प्रेम, प्रकृति, समाज, राष्ट्रीयता, वैष्णव भावना और रहस्य-जिज्ञासा-संबंधी विषयों से संपृक्त होती है। पर उसे अव्यवस्थित और विशृंखल नहीं कहा जा सकता। उसमें एक सूत्रता विद्यमान है। कवि का जीवन-दर्शन उसकी भावधारा को एकान्वित रखता है। यह जीवन-दर्शन नाना विषयों से सम्बद्ध होने के कारण स्थूल दृष्टि से वैविध्यपूर्ण ज्ञात होगा, पर कवि का बलिदानवाद या बलि-दर्शन उसे सशक्त आंतरिक संगति प्रदान करता है।

बलि-दर्शन या बलिदानवाद क्या है? बलिदानवाद का कोई अपना सुनिश्चित मतवाद नहीं है। वह अपने लक्ष्य, उद्देश्य या आदर्श के रूप में कुर्बानी करने की अटूट निष्ठा का विवेक है। साधना की पूर्णता सिद्धि कहलाती है और साधना में जीवन की मन, वचन और कर्म-संबंधी सभी क्रियाएँ एक ही लक्ष्य की ओर उन्मुख होती हैं। इसी भाँति बलि-दर्शन में किसी महत् साध्य की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया जाता है। इसके अनिवार्य तत्व हैं--आदर्श-निष्ठा, अपनी कार्य-प्रवृत्ति में अटूट आस्था, साध्य-संबंधी अखंड विश्वास और भावातिरेक। युद्ध में जैसे सिपाही लड़ना और मरना ही जानता है, उसे इतर-तर्क-वितर्कों से कोई प्रयोजन नहीं होता, वैसी ही स्थिति बलि-पंथी की समझनी चाहिए।

बलिदानी प्रवृत्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था असाधारण होती है। गहरी भावुकता के अभाव में कोई भी व्यक्ति अपना बलिदान चढ़ाने को तैयार नहीं हो पाता। भयजन्य बलिदान में स्वार्थरक्षा का प्रयत्न होता है, जिसके उदाहरण धार्मिक-अंध-विश्वास के रूप में पाये जाते हैं। स्वार्थभावना जितनी न्यून होगी, उसी अनुपात में बलिदान भावना महान् होगी। सच्चे बलिदान के लिये स्वार्थ-त्याग अपरिहार्य होता है। अपने व्यक्तित्व को जितना अधिक विस्तृत और असंकीर्ण बनाया जा सकता है, बलिदान का प्रयोजन उतना ही लोकमंगल का विधायक होता है। जो व्यापक हित के लिए अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष का विसर्जन या सुख-दुःख का परित्याग कर देते हैं, वे महापुरुष माने जाते हैं। स्वतंत्रता की प्राप्ति या उसकी रक्षा के लिए की गई कुर्बानी बलिदान ही है। चतुर्वेदी जी की भाव-स्थिति बहुत-कुछ इसी प्रकार की है। अस्तु, उत्कृष्ट कोटि का बलिदान भयजन्य नहीं होता, प्रेम-जन्य होता है, स्वार्थ के लिये नहीं होता, परमार्थ के लिए होता है।

भय और लोभ मानव-हृदय को संकुचित करने वाले भाव-संवेग हैं। पर प्रेम और त्याग उसे विराट् मानवता की भाव-चेतना से स्पन्दित रखते हैं। आशय यह है कि वास्त-विक बलिदान इष्ट-प्राप्ति के लिये किया गया आत्मोत्सर्ग है, अनिष्ट-निवारण के लिए की गई हिंसा नहीं। बलिदान आत्महनन नहीं है, आत्मोपलब्धि है। जीवन की असफलताओं से विवश होकर जो आत्म-हत्या करता है, वह बलिदानी नहीं माना जा सकता, पर किसी प्राणी की रक्षा करते हुए हो जाने वाला देहपात अवश्य ही बलिदान कहलाता है। जीवन को यज्ञ मानते हुए इसीलिए शहीदों या बलिदानियों को हुतात्मा समझा जाता है। मैं समझता हूं कि बलिदानी-प्रवृत्ति चारित्रिक औदात्य को लिये हुए होती है; और वह अधीरता की परिचायक नहीं होती, क्योंकि अधीरता का प्रेरक तत्व है स्वार्थपरता।

बलिदानी-प्रवृत्ति विशिष्ट मनःस्थिति का परिणाम होती है। विसर्जनशील मनोवृत्ति के अभाव में बलिदान की भावना का उन्मेष तक नहीं हो पाता। ग्रहणशील मनोवृत्ति से अपने तोष के लिये जो दूसरों की हत्या की जाती है, वह बलिदान नहीं है। आत्म-त्याग की फुलवारी में ही बलिदान के फूल खिलते हैं। जिस बलि-पंथी की भावचेतना जितनी तीव्र होगी और अनुभूति प्रक्रिया जितनी गहरी, उसका बलिदान भी उतना ही अधिक हृदयस्पर्शी होगा। चतुर्वेदीजी के काव्य में भाव-संकुलता ही नहीं है, भावातिरेक भी है। बलिदान का मूलाधार यही है। इसके वैचारिक और क्रियात्मक पक्ष भी हैं। कार्य-व्यापार के अंतर्गत इष्ट सिद्धि के लिये की गई सभी मानसिक या ऐन्द्रियक्रियाएँ सम्मिलित हैं। इसे इष्ट-लाभ का साधनपक्ष समझना चाहिए, पर यहाँ इष्टका अर्थ वैयक्तिक हानि-लाभ या सुख-दुःख नहीं हैं, क्योंकि बलिदानी अपने सुख के लिये दूसरों को दुःख नहीं देता, बल्कि वह दूसरों के सुख के लिए अपने जीवन को अर्पित कर देता है। दुःख को स्वेच्छया स्वीकार करना महत् उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण संतोषप्रद होता है, कष्टप्रद नहीं। यही कारण है कि चतुर्वेदी जी की कविता में 'नाश', 'त्यौहार', बन जाता है, 'मरण', 'ज्वार' कहलाता है

और बलि-पथ सौंदर्य से उद्भासित जान पड़ता है। अतएव बलिदानवाद दुःखवाद या निराशावाद से अनुस्यूत नहीं है, बल्कि वह प्रचंड आशावाद का परिणाम है। यदि कार्य-सिद्धि में संशय बना रहेगा तो आत्मोत्सर्ग की तत्परता नहीं दिखाई पड़ेगी। कहीं, कहीं ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि जहाँ पराजय का निश्चय होते हुए भी हमारे वीरों ने जूझ जाना श्रेयस्कर समझा है। पर उस बलिदान का लक्ष्य विजयी होना न होकर क्षात्र-धर्म का पालन करना रहा है। स्वतंत्रता के हमारे अहिंसक युद्ध में कई देशभक्त शहीद हुए भी हैं। वे बलि-पथ पर इसलिए नहीं चले थे कि उन्हें स्वतंत्र हो पाने की कोई आशा नहीं थी, बल्कि उन्होंने कुर्बानी इसलिये दी थी कि प्रत्येक बलिदान देश को स्वतंत्रता की दिशा में आगे बढ़ा रहा था। बलि-पंथी को अपना लक्ष्य इतना प्रिय होता है कि उसके अभाव में उसे अपनी प्रत्येक सांस बोझिल अनुभव होती है। विरह में जैसी भावाकुलता प्रेमियों के मन में पाई जाती है, वैसी ही छटपटाहट बलि-पंथी भी अनुभव करता है। चतुर्वेदी जी इसी बलि-पंथ के कवि हैं। कहना न होगा कि इस प्रवृत्ति के वे एकमात्र कवि हैं।

बलिदानवाद की दार्शनिक स्थिति किसी क्रमागत विचारसरणी को लिये हुए नहीं है। जिस भाँति मानवतावाद सामाजिक हित-संबंधी विचारधारा को अपनाता है और विविध सन्दर्भों में उसकी कई परिणतियाँ होती हैं, उसी भाँति बलिदानवाद एक उन्मुक्त जीवन-दर्शन है। अलग-अलग संदर्भों में इसके भी अलग-अलग रूप दिखाई पड़ते हैं। निश्चय ही यह व्यापक हित के लिए किए गए स्वात्म-बलिदान का दर्शन है। इसका मूल स्रोत मानवतावाद ही है, पर मानव-हित के लिए यहाँ उत्सर्ग की भावना बलवती है और मानवतावाद में लोक-हित की प्रवृत्ति प्रधान होती है। मूल वस्तु एक ही है, पर मानवतावाद में साध्य-पक्ष पर बल दिया जाता है और बलिदानवाद में साधक का पक्ष प्रधान हो उठता है। साधन-पक्ष के कार्य-क्षेत्र में आकर दोनों समरूप हो जाते हैं।

बलिदानवाद उच्चस्तरीय आदर्श-निष्ठा का परिणाम है। वह आदर्श की सम्प्राप्ति के लिये जीवन के यथार्थ को अपने बलिदानी आदर्श में बदल देना चाहता है। आदर्शवाद के अभाव में बलिदानवाद का अस्तित्व ही ढह जाता है। इसके भी अपने विविध निषेध हैं। जो विवेक सम्मत होते हैं। इसके विधि पक्ष में प्रेम और त्याग, करुणा और बलिदान, दृढ़ता और कष्ट सहन, अहिंसा और सदाचार आदि की परिगणना की जाएगी। इसके निषेध पक्ष में साधन की अपवित्रता और सुविधा की ललक, स्वार्थपरता और हिंसा, अनैतिकता और लक्ष्यहीनता, कपट और दुराचार आदि गिने जायेंगे। चतुर्वेदीजी के बलिदानवाद के अन्तर्गत क्रांतिकारियों की निःस्व वृत्ति और गांधी दर्शन का सात्विक ओज दोनों ही समन्वित हो गये हैं, जिन्हें उनकी राष्ट्रीय चेतना अपूर्व रूपच्छटा दे सकी है। इस प्रकार बलिदानवाद के अन्तर्गत आदर्श मानवतावाद के तत्व गांधी दर्शन से ओत-प्रोत होकर क्रांतिकारी राष्ट्रीय चेतना के रूप में प्रतिफलित होते हैं। ये बलिदानवाद के उपस्कारक दर्शन हैं। आशय यह है कि बलिदानवाद दार्शनिक परिपाटी नहीं है, वह विशिष्ट जीवन-दृष्टि है—उन्मुक्त और

भाव-संवलित। प्रत्येक संदर्भ में उसका रूप और प्रकार परिवर्तित हो सकता है, पर प्राणार्पण की प्रवृत्ति उसमें अनवरत रूप में विद्यमान रहती है। वह विवेक सम्मत अनुभूत दर्शन है, जिसमें त्याग की पराकाष्ठा चरितार्थ होती है। भारतीय संस्कृति त्यागपूर्ण जीवनादर्श को काम्य समझती आई है, अतएव चतुर्वेदी जी का बलिदानवाद इस शती की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना का ही मनोज्ञ परिणाम है। औरों के सुख के लिये अपने सुख का परित्याग करना वस्तुतः मानव जीवन का अवदात्त रूप है और उत्कृष्ट मूल्य भी।

इस बलिदानवादी जीवन-दृष्टि की परम्परा क्या है और उसके स्रोत क्या हैं? बलिदान-विषयक विचारणा का उद्गम अध्यात्मवाद में खोजा जा सकता है। आत्मा की खोज में तभी सफलता प्राप्त होती है जब लौकिक चेतना निःशेष हो जाय। आत्मदृष्टा वहां जागता है, जहां संसार सोता है और जहां संसार जागता है, वहां वह सोता है। आशय यह है कि जगत की सत्ता जब तक सत्य जान पड़ती है, तब तक आत्मा का दर्शन या साक्षात्कार नहीं होता है। अपने जागतिक अस्तित्व का बलिदान कर दिया जाए तो आत्मा अपने आप में सुस्थिर दिखाई पड़ती है। मनुष्य का नाम, रूप, भेद, बुद्धि पैदा करता है और आत्मा का अपार्थिव रूप अभेद का बोध कराता है। अतएव एकता की प्रतीति के लिये अनेकता की असत्यता पर विश्वास आवश्यक होता है। इस प्रकार आत्म सिद्धि के लिये संसार की असा-रता का बोध आवश्यक होता है। ममत्व का बलिदान कर दिया जाये तो सत्य की संप्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार ममत्व का विनाश सत्य को सुलभकर देता है, उसी प्रकार उद्देश्य विशेष के लिये किया गया बलिदान अभीष्ट-सिद्धि में सहायक होता है। त्याग का सर्वोच्च रूप होता है बलिदान। अतएव बलिदानवाद का मूल स्रोत है अध्यात्मवाद की साधना-प्रक्रिया।

विषय और भाव के विभेद के कारण बलिदान के रूप और प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं। अध्यात्म साधना में वह ममत्व का नाश है और दाम्पत्य प्रेम के क्षेत्र में वह सहमरण की प्रवृत्ति है। स्वधर्म की रक्षा के लिये समाज में नाना प्रकार के बलिदान होते ही रहे हैं। क्षात्र-धर्म की रक्षा के लिये मध्य-युग में अनेक युद्ध लड़े गए। बलिदानी सच्चा वीर होता है। वह मृत्यु के मुख में सोत्साह और सहर्ष पैठता है। उसका साहस और धैर्य अतुलनीय होता है। बलिदान की भावना सदैव वीरत्व-व्यंजक होती है। यह अलग बात है कि यह वीरत्व युद्ध क्षेत्र में ही न दिखाई पड़ कर धर्म, कर्म, दान और दया के क्षेत्र में दिखाई पड़े अथवा प्रेमोपासना या ज्ञान-योग के क्षेत्र में।

हमारा सन्यास मार्ग सांसारिक अस्तित्व का निषेध या बलिदान करने की भावना पर संस्थित है। ज्ञानियों और योगियों ने माया के समस्त प्रसार से अपने को मुक्त रखने का प्रयास किया है। उन्होंने जहां कंचन और कामिनी के परित्याग की बात कही है, वहां अहंकार का विनाश भी आवश्यक माना है। बलिदान की परम्परा को व्यापक परिवेश में

समझाने के लिये हिन्दी के मध्ययुगीन काव्य के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। संत कबीर का कथन है:—

"आपा मेट्यां हरि मिलै, हरि मेट्यां सब जाइ।
अकथ कहांणी प्रेम की, कह्यों न को पत्ययाइ॥"

और अपनी प्रखर शैली में उन्होंने निर्देश किया है:—

"कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे हाथ करि, सो पैसे घर माहिं॥"

यहां कबीर अहंकार-जन्य भेद बुद्धि का बलिदान करने की बात बलपूर्वक कहते हैं। प्रेम की पीर के सूफी कवि जायसी की लौकिक चारित्र्य-सृष्टि नागमती इसी प्रकार की त्याग भावना को व्यक्त करती है। यह लौकिक प्रेम का ही क्षेत्र है, माधुर्योपासना की निवृत्ति नहीं, यथा:—

"यह तन जारौं छार के, कहौं कि 'पवन उडाव'।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरे जहं पाव॥"

चतुर्वेदीजी की "पुष्प की अभिलाषा" में भी इसी प्रकार की उत्कट बलिदान भावना व्यंजित हुई है—

"मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जाएं वीर अनेक॥"

भक्ति के क्षेत्र में प्रपत्ति का विधान है और वहां एकनिष्ठता, प्रेमव्रत और भगवत् शरणागति को अनिवार्य माना गया है। तुलसीदास ने अपने प्रेम का आदर्श चातक को माना है और उसके प्रेम-व्रत का ही नहीं, उसकी आन का भी महत्व विज्ञापित किया है। बलिदानी या बलिपंथी के जीवनमें ऐसी ही आन का विशेष महत्व होता है। सूर की गोपियों का संपूर्ण आत्म-समर्पण, मीरा का तैलधारावत् प्रेम और तुलसी की दास्य भक्ति इष्ट को सर्वोपरि मानने के उदाहरण ही हैं। बलि-पंथी भी अपने संकल्पित अभीष्ट का एकमात्र अस्तित्व स्वीकार करता है और उसके लिये भक्तिमार्गियों की भांति वह सर्वस्व त्याग करने के लिये तत्पर रहता है। आशय यह है कि बलिदान की भावना अध्यात्म-साधना, भक्ति-भावना और प्रेम के क्षेत्र में निरन्तर सक्रिय रहती आई है। लौकिक और अध्यात्मिक, सभी क्षेत्रों में त्याग और बलिदान की भावना श्रेयस्कर समझी जाती है।

बलिदान की प्रवृत्ति आदर्शवाद के क्षेत्र की वस्तु है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में, किसी भी विषय और तत्संबंधी मनोभावना से संबंधित होकर वह सक्रिय हो सकती है। अवश्य ही लौकिक या अध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र में इसका विशेष प्रसार दृष्टिगत होता है। चतुर्वेदी जी ने इसी परम्परागत भावधारा को देशभक्ति की प्रवृत्ति के साथ संग्रथित करके एक नया काव्यास्वाद उत्पन्न किया है। उन्होंने भारतीय वीरत्व के आदर्श और आत्महारा प्रेम की सर्वस्व-समर्पण की प्रवृत्ति को नये संदर्भ में एक साथ ग्रहण किया है। उन्होंने गुरू-भक्ति को नेता संबंधी वीरपूजा की भावना में पर्यवसित कर लिया है। इस प्रकार चतुर्वेदी जी वीर-काव्य, लौकिक प्रेम-काव्य और भक्ति-काव्य तीनो का अपने बलिदानवाद में समाहार कर सके है। यहां बलिदान के तत्वों की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में चतुर्वेदीजी के अभिनव जीवन-दर्शन को समझने का प्रयास हुआ है।

: २ :

बलिदान की प्रवृत्ति असाधारण मनःस्थिति का परिणाम है। इसके अन्तर्गत प्रेम की उत्कृष्टता और उत्साह की अनवरुद्धत्वरा सम्मिश्रित होती है। उत्साहभरा प्रेम या प्रेमोत्साह बलिदान वृत्ति का विधायक होता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह वीर और शृंगार रस का एकान्वय है। वीरपुष्ट शृंगार रस की अभिव्यंजना भारतीय प्रबंध काव्यों में होती ही रही है, जिसकी यह अभिनव परिणति है। बलि-पंथी का प्रेम और वीरत्व उसे प्रेम-वीर बना देता है। सूत्र रूप में चतुर्वेदीजी का बलि-पंथी कलाकार प्रेम-वीर का व्यक्तित्व लिये हुए है। इसी कारण उनके भाव-संवेग सर्वत्र तरल और आकुलता भरे दिखाई पड़ते हैं। वीरत्व की प्रवृत्ति उन्हें विलक्षण जीवनोत्साह से अनुप्राणित रखती है। उनकी कविता में इसी कारण ताजगी या सद्यता मौजूद है। उनकी हर रचना सद्यः प्रस्फुटित लाल गुलाब की तरह है, जिसमें समर्पणशील उत्साह की लालिमा ही नहीं, प्रेम की कोमलता और शबनम की पवित्रता भी है। कवि का प्रेमोत्साह नित्य नई वस्तुस्थिति के प्रति आकर्षित होता है और वह कभी बासी नहीं पड़ पाता। चतुर्वेदीजी ने पिछले साठ वर्षों में प्रत्येक नये वर्तमान से प्रेरणा ग्रहण की है और वे उसका ललक के साथ स्वागत कर सके हैं। पर उन्होंने किसी भी क्षण अपने बलिदानी जीवन-दर्शन का परित्याग नहीं किया। अतएव वे लगातार विकासशील होते हुए और नित्य नवीन विषयवस्तु को स्वीकार करते हुए भी अपने मूल दर्शन से कहीं पृथक नहीं हुए। चतुर्वेदीजी के कवि-व्यक्तित्व का यह अन्तःसंगठन महान कवियों की श्रेणी में उनका स्थान निर्धारित कर देता है। भावुकता का अतिरेक और नैरंतर्य उन्हें नवीनता के साथ सम्बद्ध रखता है। उनकी बलिदान की प्रवृत्ति का स्रोत यही भावातिरेक है। इसी के कारण वे एक ओर अन्तर्मुख प्रवृत्ति के कवि बन जाते हैं और दूसरी ओर न अपनी अभि-व्यक्ति को संवारने की चिंता करते हैं और न कल्पना छबियों को ठीक-ठीक अनावरित करने का यत्न। परिणामतः उनका काव्य सांकेतिक, गूढ़ और मार्मिक बन जाता है। उनकी कविता पढ़कर या सुनकर हमारा ध्यान अर्थ, शब्द, छन्द या अलंकार पर नहीं जाता।

ऐसा जान पड़ता है कि वह संगीत की ध्वनि-तरंग की भांति भाव विशेष की सचेतन गूंज है जो मनोदेश को अभिभूत कर रही है ।

यह निवेदन किया गया है कि बलिदान की प्रवृत्ति सामान्य मनःस्थिति का औसत अनुभव नहीं है । यह विशिष्ट भाव-दशा है, जिसे भावयोग की समकक्ष वस्तु समझना चाहिए । इस प्रवृत्ति को देखकर हमारे यथार्थवादी विचारकों, समाजशास्त्रियों एवं मनोविश्लेषकों को विस्मय ही हो सकता है, पर इसका प्रभाव भी अचूक होता है । इसमें संक्रामकता के तत्व मौजूद हैं । बलिदानवादी कविता न केवल स्वार्थपरता का निवारण करती है, बल्कि वह स्फूर्तिप्रद एवं प्राणोदयकारिणी भी होती है । चतुर्वेदी जी की कविता ही प्रेरणादायिनी नहीं है, वरन् उनका व्यक्तित्व भी हमारे राष्ट्रीय, साहित्यिक और सामाजिक जीवन में प्रेरक-शक्ति सिद्ध हो सका है । चतुर्वेदी जी की कविता का मेरुदंड यही बलिदानवाद है । इसकी अभिव्यक्ति के लिए चतुर्वेदी जी ने प्रगीत काव्य-शिल्प को अपनाया है । ये प्रबंध-कवि नहीं, गीति-कवि हैं । उनकी काव्य-कला वस्तुनिष्ठ नहीं है , आत्माभिव्यंजक है । राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के कवियों से उनकी काव्य-कला इस कारण पृथक् जान पड़ती है कि वह वस्तुनिष्ठ रचना-कार्य नहीं है । मैथिलीशरणजी प्रबंध-कवि हैं और नवीन जी तथा दिनकर जी की राष्ट्रीय कविता उनकी अपनी अपनी प्रेमगीतियों की मनोदशा से पृथक् भाव-भूमि की सृष्टि है । चतुर्वेदी जी के काव्य में व्यक्तिगत प्रेम और राष्ट्रीय चेतना की प्रवृत्तियाँ एक दूसरे में घुलमिल गई हैं । अपनी विषय-वस्तु के कारण फिर भी चतुर्वेदी जी राष्ट्रीय कवि ही हैं । इसी भाँति प्रगीत काव्य-शिल्प को अपनाते हुए भी वे छायावादियों की भाँति वैयक्तिक सीमाओं के कवि नहीं रह पाये । राष्ट्रीय कवि होते हुए भी वे स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के कवि हैं, नैतिक मर्यादाओं के कवि नहीं । हमारे यहां चतुर्वेदीजी की कविताओं को कभी छायावाद के खाते में डालकर देखा-परखा गया है और कभी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के खाते में उनका मूल्यांकन हुआ है । वस्तुतः वे दोनों धाराओं के संयोजक बिंदु हैं । पौराणिक रूपक दें तो उन्हें गांधी युग की त्रिवेणी कह सकेंगे । उत्थानशील राष्ट्र की युग-चेतना चतुर्वेदीजी के काव्य में आत्मभिव्यंजना का सौंदर्य-शिल्प लिए हुए है ।

: ३ :

इस बलिदानवाद की चतुर्वेदीजी के काव्य में विषयवस्तु तथा भावस्थितिके पृथक्-पृथक् सन्दर्भों में जैसी अभिव्यक्ति हुई है, उसका धारावाहिक विवरण उपस्थित किया जाना उपादेय जानपड़ता है । चतुर्वेदीजी की दृष्टि में साहित्य-चिंतकका यह उत्तरदायित्व है कि—"वह पुरुषार्थ को दोनों हाथों में लेकर जीने का खतरा और मरने का स्वाद अपनी पीढ़ी में बोए ।' वे समझते हैं कि साहित्यकार अपने लिए न जिए, दीन दुखियों के लिए, भूखे-प्यासे गरीबों के लिए क्रांति मचा दे । वे कवि को मूलतः विद्रोही मानते हैं, जो रूढ़ियों का अनुकरण नहीं

करता, वलिक अपना मार्ग आप बनाता है। सुख और दुःख, प्रेम और कर्त्तव्य, प्रणय और प्रलय तथा त्याग और बलिदान को साहित्यकार एक साथ अपनी कलम की नोक पर रख देता है। इन्हें वह प्रकट ही नहीं करता, बलिक अपने जीवन में जीता भी है। उनका यह आत्म-परिचय इस प्रसंग में विशेषतः दृष्टव्य है—

"सूली का पथ ही सीखा हूं,
सुविधा सदा बचाता आया।
मैं बलि-पथ का अंगारा हूं,
जीवन ज्वाल जलाता आया।"

तथा—

"एक फूंक, मेरा अभिमत है,
फूंक चलूं जिससे नभ जल थल।
मैं तो हूं बलि-धारा पंथी,
फेंक चुका कब का गंगाजल।"

वे अपने बलिदान को राष्ट्र के स्वातंत्र्य मंदिर की नींव का पत्थर मानते हैं और कहते हैं कि 'मरण और सपनों में होती है मेरे घर होड़ा-होड़ी'। इस मनःस्थिति का निर्माण परतंत्रता के वातावरण में हुआ है। सिपाही, विद्रोही, देशभक्त और प्रेमी के रूप में वे इसी बलिदान की अभ्यर्थना करते हैं। उन्हें नाश का त्यौहार सर्वाधिक प्रिय है और वे 'शूल के अमरतत्व पर, बलि फूल के मैंने चढ़ाए' के संबंध में कभी आगा-पीछा नहीं सोचते। उनकी 'बलि-पंथी से' शीर्षक षट्पदी हथेली पर ब्रह्मांड को उछालते चलने की प्रेरणा देती है। जवानी को वे 'मरण का त्यौहार' मानते हैं और स्वतंत्रता की बलिवेदी पर शीश चढ़ाने को उसकी कृतकार्यता समझते हैं। 'मरण-ज्वार' में उनकी इतनी प्रबल आस्था है कि वे प्रहार-रहित बलिदान से प्राप्त जीत या हार को स्वीकार ही नहीं करना चाहते। 'हिमतरंगिणी' और 'माता' में उन्होंने राष्ट्रीय कार्यकर्ता की कतिपय अनुभूतियों को बलिदानवादी दृष्टिकोण से अभिव्यक्त भी किया है।

कला को बलि ही नहीं, वे बल भी मानते हैं, क्योंकि उनके लिए वह संकटों का शत-शत तहों के बीच उत्थान के अतिरिक्त और पतन के प्रारंभ के बीच की झीनी रेखा की तरह अत्यन्त उल्लासमयी सुकोमलता का आविष्कार है। तभी उनका बलिदानी दर्शन उसी भांति स्वतंत्र भारत में भी सक्रिय दिखाई पड़ता है, जिस भांति वह स्वतंत्रता की उपलब्धि के पूर्व सचेष्ट था। अब कश्मीर 'मधुर बलि-प्राण पूजा' को माँगता है। वे कृषि, दारिद्रय और काले बाजार को विस्मृत या नजर अन्दाज नहीं कर पाते। उन्हें प्राण का शृंगार वहाँ दिखाई पड़ता है, जहाँ काल की झंकार होती है। उन्हें चढ़ाए हुए मस्तक काली के नूपुर-नाद या बलि के प्रसाद जान पड़ते हैं। सीमा-संकट को

लक्ष्य कर वे कहते हैं :—

"देश के सूच्यग्र पर कुर्बान हो उठती जवानी।
देश की मुस्कान पर बलिदान राजा और रानी।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को लक्षित करके वे "रचो बलि-पथ सुहाने" का संदेश देते हैं, अन्यथा विश्व की हाट में हमारे प्राण तक बिक जाएँगे। स्वतंत्र देश को कर्तव्य-बोध कराते हुए उनका कवि कहता है—

"तीस करोड़ घरों पर गर्वित उठे तने ये सिर,
तुम संकेत करो कि हथेली पर शत-शत हाजिर।"

और स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए उनका निर्देश है—

"मिले रक्त से रक्त मने अपना त्यौहार सलोना,
भरा रहे अपनी बलि से माँ की पूजा का दोना।"

चतुर्वेदीजी के लिए बलिदान निर्माण की भूमिका है। वे बांधों और कारखानों के निर्माण में लगे हुए देश से पूछते हैं:—

"पूछ रही खेतों में आजादी की यही घड़ी है,
क्या पूरे हो गए तुम्हारे प्राण-दान -संकल्प ?"

छब्बीस जनवरी उनकी दृष्टि में बलिदान-काव्य का वह मधुर छन्द है, जिसमें स्वतंत्रता साकार हुई है। उनके बलि-पथ में हृदय की विवशता कोई व्यवधान उपस्थित नहीं कर पाती। वे समझते हैं कि युग-नारी के हाथ में प्रलय-गीत और युग-पुरुष के हाथ में मातृभूमि के गौरव की लालिमा है। बलिदान की भावना को वे मरण-ज्वार कहते हैं, जिसके अभाव में रक्त बेस्वाद अर्थात् पानी हो जाता है। इसलिये वे संकल्प और समर्पण को महत्व देते हैं। सफलता और सिद्धि को नहीं, यथा—

"सिद्धि दासियाँ पीछे-पीछे, चले समर्पण आगे-आगे।"

वे बचाव या विश्राम को मृत्यु का अवमूल्यन समझते हैं। स्वतंत्रता का जो सिपाही बलिदान को अपना अंतिम साध्य मानता है, उसका यह स्वरूप है—

"सिर पर प्रलय, नेत्र में मस्ती, मुट्ठी में मन चाही,
लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है, मैं हूं एक सिपाही।"

चीन द्वारा भारतीय सीमाओं के अतिक्रमण की घटनाएँ कवि की अन्तश्चेतना में उथल-पुथल मचा देती हैं, और वह वृद्ध रुग्ण किंतु चिरतरुण कवि पुनः आग उगलने लगता है। वह प्रण से मतवाले बलि-पंथी को यह कहकर उद्बुद्ध करता है कि सीमा सिरवालों को खोज रही है। वे बलि-पथ की जीवन-धारा में रक्त प्रवाहित करते रहने की अनवरत आवश्यकता का अनुभव करते हैं और प्रस्तुत युद्ध में बल और बलि की उभय धाराओं का संगम कराना चाहते हैं। यह अंतर द्रष्टव्य है कि जहां हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई अहिंसक थी, बल के साथ बलिदान का संघर्ष था, वहां अब स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए बल और बलिदान दोनों की एक साथ आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में लिखी गई उनकी "चलो सजाओ सैन्य" रचना आवेश भरा सशक्त उद्बोधन है—

"बूढ़ों की क्या बात,
युगों की तरुणाई के दिन आए हैं।"

इस सुनहरे महोत्सव की स्वानुभूति उन्हें यह कहने को विवश कर देती है—

"गंगा मांग रही है मस्तक,
जमुना मांग रही है सपने।
आज जवानियां स्वयं टटोले,
सिर हथेलियां अपने अपने।"

और उनका यह संदेश है—

"चलो सजाओ सैन्य,
समय की भरपाई के दिन आए हैं।
आज प्राण देने के,
युग की तरुणाई के दिन आए हैं।"

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्वेदी जी की अकुंठित बलिदान-भावना परतंत्रता और स्वतंत्रता के तथा लोक-कल्याण और सीमा-सुरक्षा के विविध घटना-प्रसंगों या वस्तु-स्थितियों में समान रूप से प्रखर, समुन्नत और अनाविल रही है। उन्होंने समझौते और समझदारी को महत्व न देकर संकल्प, कर्तव्य और त्याग को श्रेयस्कर समझा है।

प्रेम और बलिदान के मध्य कवि को प्रणय की अपेक्षा प्रलय ही काम्य है, यथा—

"प्रणय-पथ मिलने लगे अब प्रलय-पथ से दौड़।
सूलियों पर ऊगने में युग लगाए हौड़।"

और उसने, 'युग और तुम' के विषय में लिखा है:—

"तुम कहते हो बलि से पहले अपना हृदय टटोलो।
युग कहता है क्रांति-प्राण पहले बंधन तो खोलो।"

वह जानता है कि बिना प्रेम के बलिदान झूठा पड़ जाता है, यथा:—

"प्रणय से मीठी मधुर जब बेड़ियाँ झंकार उट्ठीं।
सूलियों ने माँग भरकर कहा—जी में प्यार घोलो।"

उसकी दृष्टि में रोटियों का राग आने वाले प्राणों को बचाकर अपने पूर्वजों के गीतों को झुठलाते हैं। वे बिस्तर की लाश हैं, बलि-पंथी नहीं।' उधार के सपने' का राजा राष्ट्र का नेता ही है, जिसकी एक-एक बोली पर सौ-सौ सिर न्यौछावर होते हैं। उसे कवि 'युग पुरुष' के रूप में कृति की नव आशा, यशोविभूति, प्रेरणा की अभिलाषा और युग की अमर सांस मानता है, जिसकी 'तान की मरोर' पर—

"शीश की लहर उठे, फसल की एक शीश दे,
पीढ़ियों बरस उठें, हजार शीश-शीश ले।"

कर्तव्य-पथ से डिगाने वाली अश्रुभरी आँखों को देखकर कवि कहता है—

"बलि होने में, वज्र हृदय हो,
करती लख खींचातानी।
राष्ट्रदेवि ! करने आई हो,
क्या मुझको पानी-पानी।"

कवि को दाम्पत्य जीवन के क्षेत्र में भी बलि-प्रवृत्ति ही प्रेयस् जान पड़ती
'मैं नहीं बोली कि वे बोला किए' में वह कहता है—

"समय सूली सा टँगा था,
बोल खूंटी से लगे थे।
मरण का त्यौहार सा था,
भाग; जीवन-धन जगे थे।"

विवाह को कवि सर्वस्व का दान मानता है, क्योंकि बेटी की विदा को उसने आत्मसमर्पण ही कहा है। कवि ने अपने समग्र व्यक्तित्व को इन पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है —

"उनके सपने हरियाता, मेरी सूझों का पानी।
मुझ से बलि-पंथ हरा है, मुझ पर दुनिया दीवानी।"

इसीलिए सूली पर चढ़ना उसका जीवनोत्सव है, मौत की वेला को वह त्यौहार मानता है और उसकी खेला प्रलयंकर है। व्यावहारिक जीवन का सुविधापूर्ण मार्ग भूल जाने पर ही बलि के फूलों को खिलाने वाला उसका अभिनव स्वप्न सुस्पष्ट होता है।

कवि अपनी प्रकृति संबंधी कविताओं में भी इसी प्रवृत्ति को अपनाए हुए है, यथा-

"पहाड़ों की किस्मत में बलिदान लिखकर,
नदी बह पड़ी थी जकड़कर, बिलखकर,
गरम रक्त था, पीढ़ियाँ जग रही थीं,
कि बाजी खुले प्राण की लग रही थी।"

अन्यत्र उसने कहा है कि वह मनुष्य है, जो सिर चढ़ाने में संकोच करता है, पर वृक्ष तो फूलों को फेंक देते हैं। आत्मसमर्पण के समय मानवीय विश्वास की कदर्य न्यूनता ही इसका कारण है, जो बौनी प्रभुता या अर्पण की चुप्पी से पैदा होती है। कवि की दृष्टि में प्रतिभा कभी सुविधा का मार्ग नहीं अपनाती, इसी कारण कृतिमय जीवन उत्सर्गशील होता है। पचमढ़ी के 'बिवा फॉल' को देखकर उसे झरने के बलि-व्यापार की ही अनुभूति हुई है, यथाः—

"ठंडा रक्त स्नेह, वसुधा पर बहा उठे हो पानी,
तुम बलिदान-पंथ के यात्री, यह धारा कल्याणी।
किसकी चरण-धूलि हो, किस पर बरस-बरस छाए हो,
कौन बुलावा आया है, दौड़े से क्यों धाए हो ?"

कवि ने अपने बलिदानवाद की दार्शनिक भूमिका इस प्रकार स्पष्ट की है—

"उसकी ही रचना को उसको ही दान करें,
स्वर में संगीत रहे, कृति में बलिदान भरें।
'उठना' ही दर्शन का दर्शन अभिराम रहे,
'गिर पड़ना' गति का हँस, उठो यों प्रणाम रहे।"

: ४ :

चतुर्वेदीजी का बलिदानवाद मात्र उनकी रचना प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि उनका समग्र जीवन-दर्शन है। "मैं किसके लिए लिखता हूँ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है—"शृंगार की परम सुकोमलता और आकर्षणशीलता जब मेरी आस्थाओं को गुदगुदा उठती है, तब मैं उसे कभी देश पर और कभी देव पर और कभी मानव पर और कभी प्रभु पर चढ़ाने का मोह संवरण नहीं कर सकता। किंतु जिस तरह गुलाम अपने लिए आजादी नहीं चाहता, उसी प्रकार अपने प्रभु के सम्मुख खड़ा होकर शब्दों पर अनेक प्रकार के आरोप करके भी मैं समर्पण के क्षेत्र में शब्दों, ग्रंथों, प्रेरणाओं, काव्यों में भाषा अथवा कृति के साथ किसी प्रकार की दुर्गंध न तो पैदा करना चाहता हूँ, न उसे सह ही सकता हूँ।" कवि का अभिप्रेत यही है कि वह शृंगार या देशभक्ति की प्रवृत्ति का ही कवि नहीं है, बल्कि वह समर्पण का कलाकार है या बलिदानवादी कवि है। वह एक तरफ विश्व के प्रलयंकर परिवर्तनों और दूसरी तरफ व्यक्ति विशेष के भावोन्मेषों को एक दूसरे का पूरक समझता है, परस्पर विरोधी व्यापार नहीं। उसका कथन है—"एक कवि के रक्त की पहचान और सिर का दान माँगती है, और दूसरी वस्तु में समा सकने के कोमलतर क्षणों की उच्चतर समर्पण का सबूत चाहती है। एक कवि का निश्चय है और दूसरी कवि की अनुभूति बनकर रहना चाहती है। इनमें विषमता कहाँ है।" कवि का यह वक्तव्य डॉ. नगेन्द्र के इस कथन की पुष्टि करता है—"पं. माखनलाल चतुर्वेदी के व्यक्तित्व में मधुर कवि और ओजस्वी सैनिक एक आलिंगन-पाश में आबद्ध हैं, उनमें भावुक नारी और कर्मशील पुरुष का संयोग है।"

चतुर्वेदीजी की कविता को राष्ट्रीय काव्य, प्रेम-काव्य, रहस्यवादी काव्य, प्रकृति-प्रेम-मूलक काव्य, भक्ति काव्य, व्यंग्य काव्य, वात्सल्य संबंधी रचनाएँ और प्रगति तथा प्रयोग विषयक काव्य के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। वस्तुतः, यह काव्य-विषयों या रचना-प्रवृत्तियों को लक्ष्य में रखकर किया गया विभाजन है। इसे काव्याध्ययन का उपक्रम समझना चाहिए, कवि के अंतरंग सौंदर्य को समझने का प्रयास नहीं। कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी भावुक प्रेमी हैं और अनन्य देशभक्त। वे अन्तर्मुख कवि हैं और बहिर्मुख जीवन द्रष्टा। वे भगवत-भक्त हैं और प्रकृति-प्रेमी कवि। वे रहस्योन्मुख जिज्ञासु हैं और राष्ट्रीय जीवन के क्रांति-विधायक। वे योद्धा, प्रेमी और भक्त एक साथ हैं। उन्हें दाम्पत्य जीवन और बाल-क्रीड़ाओं में जितनी आसक्ति है, उतना ही उनका ईश्वर की आराधना में अनुराग है। इस विषय-वैविध्य के मूल में कवि का भावनाशील प्रेमी व्यक्तित्व संस्थित है। वह अन्तर्मुखी वृत्ति का कलाकार है, जिसमें बाह्य और आभ्यंतर जीवन अथवा विषय-वस्तु की विविधता न केवल एक सूत्रता में आबद्ध हो जाती है, वरन् वह एक ही भावधारा की

अभेदमयी सत्ता को अभिव्यक्त भी करती है। भावस्थिति के अभेद के कारण उपर्युक्त बाहरी विभेद महत्वशून्य हो जाते हैं। किसी कवि को समझने के लिए स्थूल वर्गीकरण की अपेक्षा उसके सूक्ष्म भाव-संवेगों का परिज्ञान पर्याप्त होता है। आशय यह है कि चतुर्वेदी जी प्रेम नामक मनोवृत्ति के अन्तर्मुख कवि हैं। इस प्रेम को उन्होंने अतिशय विशद् बना लिया है और उसे आंतरिक विवशता की कसौटी पर कसा है। उसके खरेपन को परखा भी है। इसी प्रेम को उन्होंने एक नई अर्थदीप्ति दी है। उनके प्रेम-दर्शन के इस नव्य रूप को ही उनका बलि-दर्शन या बलिदानवाद कहा जा सकता है। इसे सर्वस्व समर्पण, प्राणार्पण, बलिदान या आत्मोत्सर्ग का पर्यायवाची समझना चाहिए। प्रेम की उत्कटता कवि को साहसी बना देती है। वह अपने संकल्पित इष्ट पर न्योछावर हो जाने में अपनी कृतकार्यता या अस्तित्व की सार्थकता मानता है। इसीलिये चतुर्वेदीजी का कवि-व्यक्तित्व प्रेम-वीर के आदर्श को चरितार्थता प्रदान करता है। उनका वीरत्व प्रेम का मुंह नहीं जोहता, वरन् उनका प्रेम वीरत्व का अनुसरण करता है। अभिप्राय यह है कि उनकी भावधारा जीवन-दर्शन अथवा आदर्श-निष्ठा की अनुगामिनी है। इसी आधार पर उनके सामाजिक व्यंग्यों और नए काव्य-प्रयोगों को नई कविता की यथार्थवादी परिणतियों से पृथक् किया जा सकता है। अपनी तीव्र भावुकता और अनन्य संकल्पनिष्ठा तथा समग्र रूप में प्रेम-वीर का कवि-व्यक्तित्व सुस्थिर रख पाने के कारण वे हिंदी साहित्य के अद्वितीय कवि सिद्ध होते हैं। उन्होंने जीवन के कड़ुवे और मीठे हर क्षण को प्यार किया है। अपनी स्वल्प जानकारी के आधार पर मैं कहूँगा कि स्वदेश या विदेश की किसी भी भाषा में मुझे इस प्रवृत्ति और बलिदान-वादी दर्शन का ऐसा कवि नहीं दिखाई पड़ा, जिसकी तुलना चतुर्वेदीजी से निर्भ्रांत होकर की जा सके। आशय यह है कि चतुर्वेदीजी नई भावधारा, नए जीवन-दर्शन और अभिनव युग-बोध के अद्वितीय कवि हैं। उनकी अभिव्यक्ति-भंगिमा का वाक्त्व भी अपरंपरित है। इसीलिए उनका रचना-शिल्प अभिनव है, जिसे छायावादी काव्य-शैली की पीठिका तैयार करने का ऐतिहासिक महत्व सम्प्राप्त है। वे आधुनिक प्रगीत-पद्धति के प्रमुख प्रवर्तक और उन्नायक हैं, पर उन्होंने साँसों और सूझों को महत्व दिया है अर्थात् अनुभूति और कल्पना को साधा है, उक्तियों को सँवारने की चिंता नहीं की। अतएव उनकी अभिव्यंजना-शैली छायावादी रचना-प्रक्रिया से भिन्न प्रतीत होती है। उसका गठन और संप्रेषण पृथक् कोटि-क्रम की वस्तु है। वह आवेदन-निवेदन का काव्य है, मात्र आत्मभिव्यंजना की कला नहीं। मैं समझता हूँ कि कवि की बलिदानी प्रवृत्ति और भावुक मनःस्थिति उसके कलाकार की अद्वितीयता के विधायक तत्व हैं। राष्ट्रीय कार्यक्रमों में आकंठ डूबे रहने के कारण वे छायावादी काव्यकला के अभिव्यंजना कौशल की उपादेयता के संबंध में सशंक ही रहे हैं। वे ड्राइंग-रूम के कवि नहीं हैं। अपने युग की सामाजिक चेतना के आत्मजयी कवि हैं। उनकी कविता की सटीक व्याख्या इस उद्धरण में उपलब्ध होती है :—

"मैं बलि का गान सुनाती हूँ,
प्रभु के पथ की बनकर फकीर;
माँ पर हंस हंस बलि होने में,
खिच, हरी रहे मेरी लकीर।"

चतुर्वेदी जी के इस बलिदानवाद का अन्दाज नया है, पर वजन सर्वथा अतुलनीय है।

१४

प्रगीत काव्य-रूप

प्रगीत एक विशेष प्रकार का काव्य-रूप अथवा साहित्य-प्रकार है। छायावादी गीतिकाव्य को भक्तिकाल के पद-साहित्य से पृथक् करने के लिये प्रधानतः गीत को 'प्र' (विशेष) उपसर्ग से संयुक्त किया गया। गीत शब्द का अर्थ भी बदला। श्रव्य-काव्य या पाठ्यकाव्य की अपेक्षा गीति-काव्य में गेय-तत्व अधिक मात्रा में विद्यमान रहता है। गीति-काव्य श्रव्य-काव्य की अपेक्षा अधिक संगीतात्मक होता है। पर प्रगीत में यह शैलीगत या रूपगत भेद गौण हो गया। प्रमुखतः प्रगीत काव्य आत्माभि-व्यंजक काव्य का पर्याय समझा जाने लगा। गीतिकाव्य और पाठ्यकाव्य का मौलिक अन्तर काव्य-वस्तु-परक उतना नहीं था, जितना छंदोगतिका राग-रागनियों के स्वर-ताल के साथ सामंजस्य का था। प्रगीत-काव्य में कवियों की दृष्टि दूसरी ही वस्तु पर केंद्रित थी। वे अन्तरवृत्ति निरूपक या विषयी-प्रधान काव्य को बाह्यार्थ निरूपक या विषय-प्रधान काव्य से पृथक् करने के लिये प्रगीत शब्द का व्यवहार करने लगे। आशय यह है कि गीत शब्द में संगीत तत्व का अधिक आग्रह है और प्रगीत शब्द में स्वानुभूति की व्यंजना का। इसका यह अर्थ नहीं है कि गीतिकाव्य स्वानुभूति-व्यंजक रचना नहीं होता और प्रगीत-काव्य की गेयता पाठ्य-काव्य के समकक्ष हो जाती है। अवश्य ही गीतकारों ने संगीतात्मकता को प्रश्रय दिया है, और प्रगीतकारों ने स्वानुभूति को। भक्तों ने राम और कृष्ण की कथा को अपने गीतों की अन्तर्धारा के रूप में प्रायः रहने दिया है और अधिकांश छायावादियों ने राग-रागिनियों की अवहेलना की है।

गीतिकाव्य को संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में पृथक् काव्यरूप नहीं माना गया, इसका कारण यही है कि संस्कृत-साहित्य में साहित्यिक गीतों की पर्याप्त रचना नहीं हुई। लोक-गीतों के रूप में इसका प्रचलन अवश्य रहा। साहित्य-दर्पणकार ने गेय पद का

निर्देश रूपक-प्रकरण के अन्तर्गत किया है, और वह स्थितपाठ्य मात्र है। साहित्य-शास्त्रियों ने गीति-काव्य को केवल लास्यांग माना और उसकी लक्षण-चर्चा नाट्य-शास्त्र में आनुषंगिक रूप से की। यह साहित्य के क्षेत्र में न गिना जाकर संभवतः संगीत कला की वस्तु समझा जाता रहा। अतएव वहाँ प्रबन्धकाव्य और मुक्तककाव्य के भेदापभेदों का विवेचन होता रहा, गीति-काव्य की पृथक् लक्षण-चर्चा नहीं की गई। दृश्य काव्य में उसे नाट्य शिल्प का अंग ही मान लिया गया। जयदेव की गीति-रचना तब हुई, जब संस्कृत के साहित्य-शास्त्र में नवोद्भावना न की जाकर, खंडन-मंडन करने की प्रवृत्ति प्रधान हो उठी थी। वह अलंकारिकों का टीका-युग था। लोक-भाषाओं में प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना होने लगी थी। संस्कृत का मान था, पर वह रचना-क्षेत्र में अपदस्थ हो रही थी। यही कारण है कि हिंदी में गीति-काव्य को प्रबंध-हीन अथवा निराख्यानक रचना होने के कारण मुक्तक के खाते में डालने की परम्परा दिखाई पड़ती है। वस्तुतः पाठ्यकाव्य में ही उसका सन्निवेश हुआ। उसे भी वस्तुनिष्ठ रचना-कार्य समझा गया। कदाचित् अनुभूति प्रधान गेय रचना का पृथक् वर्ग न किए जाने का कारण निर्वैयक्तिक काव्य-रचना का लक्ष्योद्देश्य था। इसके लिए रसावयवों का साँचा भी थोड़ा बहुत उत्तरदायी हो सकता है। एक महत्वपूर्ण कारण कवि और कुशीलव के कर्तव्यों का अन्तर और उनके सामाजिक स्तर का विभेद भी रहा होगा।

मुक्तक का अर्थ मुक्तेन मुक्तकम्—स्फुट या फुटकर रचना है। इसके अन्तर्गत् विषय-प्रधान रचना परिगणित होती है। सुभाषित या सूक्तियाँ, नीति के दोहे और कुंडलियाँ, शृंगार के कवित्त और सवैये आदि मुक्तक कहलाते हैं। मुक्तक का अर्थ ही पूर्वापर-संबंध रहित स्फुट छन्दो रचना है। मुक्तक का प्रत्येक छन्द अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र होता है। दो-दो, तीन-तीन, चार-चार, या पाँच-पाँच छन्दों के समूह भी मुक्तक हो सकते हैं, पर उनकी विशेष संज्ञाएँ हैं, यथा युग्मक, सन्दानितक, कलापक और कुलक। मुक्तक के व्याख्याताओं ने गेयता का गुण इस काव्य-रूप पर आरोपित नहीं किया। अतएव गीत या प्रगीत को मुक्तक के हवाले करना ठीक नहीं जान पड़ता। विषय-प्रधान निराख्यानक कविता भी मुक्तक रचना नहीं कही जा सकती, फिर भावोच्छवास-मयी रचना तो और भी बाहर की वस्तु है। अंग्रेजी की विवरणात्मक कविता जैसे खंडकाव्य नहीं है, वह आख्यानक कविता कही जा सकती है, उसी प्रकार हमें अन्य साहित्यिक प्रकारों के गुणों के अनुसार उनका यथोचित वर्गीकरण करना चाहिए।

मुक्तक काव्य के अन्तर्गत् प्रायः गीति रचनाएँ परिगणित की जाती रही हैं। कथात्मक अथवा निराख्यानक रचनाओं में प्रबन्धात्मकता नहीं दिखाई पड़ती। अतएव जो रचनाएँ प्रबन्धत्व से निर्बंध या मुक्त रहीं, वे मुक्तक संज्ञा से अभिहित हुईं। उनमें पंच-संधियों अथवा सन्ध्यंगों की योजना नहीं हो सकती थी। वे किसी भाव को स्फुट

रूप से ही व्यंजित करती थीं। उनमें विद्युच्छटा तो थी, पर बादलों की घटा का विस्तार नहीं था। किंतु जिस प्रकार निबन्ध, रेखा-चित्र और रिपोर्ताज में भेद करने की आवश्यकता है, उसी प्रकार छन्द-रचना या स्फुट पद्य, गीतिकाव्य, निराख्यानक कविताओं में भी। आशय यह है कि मुक्तक काव्य की इयत्ता प्रबंध-सापेक्ष ही नहीं समझी जा सकती, गीतिकाव्य की प्रकृति से भी वह नितांत भिन्न वस्तु है।

हमारे यहाँ प्रगीतात्मक मुक्तक संज्ञा प्रचलित हो गयी है, मुक्तक विशेष्य हो गया और प्रगीत विशेषण। यह इसलिये किया गया कि प्रगीत रचनाएँ प्रबंध तत्व से रहित होती हैं। न उनका आकार-प्रकार एक जैसा नपा-तुला होता है, न उनका एक जैसा सांचा ही होता है। मुझे यह निवेदन करना है कि मुक्तक की विषय-प्रधानता को प्रगीतों की आत्मानुभूति पर न थोपा जाय, अन्यथा बिहारी-सतसई, कवितावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, रुबाइयाँ आदि को मुक्तक कहने से उनकी गीति रहितता का स्वरूप-बोध नहीं हो सकेगा। मुक्तक-काव्य का रचना-काल मुख्यतः शृंगार या रीतिकाल है, और प्रगीत काव्य छायावाद-युग की सृष्टि है। छायावादी कवि रीति-परम्परा का विरोधी भी रहा है। क्या प्रगीत शब्द में अर्थ-बोध कराने की कोई नैसर्गिक कमी है, कि उसे मुक्तक के बिना अपूर्ण माना जाए ? मुक्तक के द्वारा न संगीतात्मकता का बोध होता है और न आत्माभिव्यंजना का। फिर उसे मुक्तक या स्फुट कहने से ही क्या लाभ ? मुक्तक रचना-शैली की सर्वथा पृथक् मर्यादा है। आत्म-निवेदन उसके कवि-कर्म का लक्ष्य भी नहीं है। वस्तु-परक मुक्तक और अनुभूति प्रवण प्रगीत प्रकृत्या भिन्न काव्य-रूप हैं।

प्रगीत काव्य का उन सभी प्रकार की काव्यात्मक रचनाओं से तात्विक अन्तर दिखाई पड़ेगा, जो विषय-प्रधान, वस्तून्मुखी या तटस्थ पर्यवेक्षण, संवेदन या भावना-व्यापार की सृष्टियाँ हैं, पर आत्मोन्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से सर्वथा असंपृक्त नहीं हैं। न कोई व्यक्ति पूर्णतः आत्मोन्मुख होता है, न पूर्णतः बहिर्मुख। आंशिक अथवा आनुपातिक आधिक्य के आधार पर ही उसे किसी एक वर्ग में परिगणित किया जा सकता है। प्रबन्ध-काव्य में अन्तर्मुखी काव्य-प्रवृत्तियों का भी विनि-योग होता है, और प्रगीत काव्य में बहिर्मुखी काव्य दृष्टि का भी, पर उनका प्राधान्य नहीं होता। इसी कारण प्रगीत काव्य आत्म-प्रधान काव्य माना जाता है और प्रबन्ध-काव्य विषय-प्रधान काव्य। रामचरित मानस का वर्ण्य विषय कवि की आत्मानुभूति के माध्यम से अभिव्यंजित हुआ है और मीरा के काव्य में पदार्थ जगत् का सर्वांशतः निषेध नहीं है। कामायनी में आकर दोनों वृत्तियों का एक संतुलन दिखाई पड़ता है, पर उसमें भी प्रगीतात्मकता समता की भूमि पर नहीं है, वह प्रबन्धात्मकता की अपेक्षा कहीं प्रधान हो गई है। आशय यह है कि प्रगीत का वक्तव्य कवि की आत्मानुभूति होता है, पर अन्य काव्य-रूपों का प्रतिपाद्य कोई विषय-वस्तु अथवा कार्य-व्यापार।

आत्मानुभूति के अभाव में काव्य की सत्ता ही नहीं रहेगी, पर प्रगीत में उसकी आन्तरिक या संवेगात्मक प्रक्रिया काव्य का विषय होती है और प्रबन्ध-रचना में वह आनुषांगिक हो जाती है। प्रगीत में वस्तुसत्ता सांकेतिक सौंदर्योद्भावक और अनुभूति का कारण मात्र होती है। प्रबन्ध में वस्तुसत्ता प्रधान, प्रतिपाद्य विषय और काव्यानुभूति की सृष्टि या कार्य होती है। कवि की अनुभूति के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित होता है, और आह्लाद अथवा रसास्वाद की उपलब्धि। पर प्रगीत भाव-चित्रण अथवा प्रभावव्यंजना पर आश्रित है और प्रबन्ध विभाव-वर्णन अथवा चरित्र-चित्रण पर। यही कारण है कि आधुनिक प्रगीत काव्य की विवेचना के लिए रस-सिद्धांत ज्यों का त्यों सोलह आना उपादेय नहीं माना गया।

यदि हम गीति-काव्य के विकास की रूपरेखा को देख लें तो इस काव्य रूप के तत्वों का निरूपण सरलतापूर्वक कर सकेंगे। गीति-काव्य को साहित्य ने जन-जीवन से गृहीत किया है। आत्म-प्रकाशन के लिये मनुष्य बराबर इस साहित्य-विधा का उपयोग करता आया है। साहित्य ने कथा-कहानी और गीत ही अपने मूलरूप में आदिम सभ्यता से ग्रहण किये हैं। इनका विकास और संस्कार हुआ है, पर इनके मौलिक चारुत्व का ध्यान भी कवियों ने रखा है। आधुनिक सभ्यता में इसे स्त्रियोचित गुण समझा जाने लगा है, पर गीत केवल नारी भावना की अभिव्यक्ति नहीं है, उसमें जीवन की तल-स्पर्शिता, विविधता और व्यापक सौंदर्य की अभिव्यंजना भी हुई है। ओज, उत्साह और पौरुष को मानवीय तथा राष्ट्रीय भूमिका में उपस्थित किया गया है।

गीत का उद्गम वेद है, यह धारणा असत्य नहीं है। सामवेद को गेय-काव्य न मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता। उदात्त-अनुदात्त स्वरों पर आधारित सामवेद की ऋचाएँ संगीत और आत्माभिव्यक्ति के सामंजस्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। प्रत्येक देश के प्राचीन इतिहास में इस बात के प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि सर्वत्र वाद्य यन्त्रों के साथ धार्मिक गीत और परवर्ती काल में वीर-गीत गाए जाते रहे हैं। समाज की सहानुभूति को उद्रिक्त करने के ये प्रमुख साधन थे। श्रीमद्भगवद्गीता के नाम में गीत शब्द का महत्व स्पष्ट होता है। गीत-तत्व-मयी रचना ही तो गीता है। पर वहाँ उसका लाक्षणिक अर्थ ही गृहीत है।

बौद्धों की थेर और थेरी गाथाओं में गीति-तत्व का प्रसार दिखाई पड़ता है। गाथा शब्द का अर्थ गीत होता है, पर ऋक् आध्यात्मिक स्तवन हैं और गाथा लौकिक प्रशस्तियाँ। संस्कृत-नाटकों के अन्तर्गत भी संगीत का विधान है। प्राचीन महाकाव्य गेय काव्य हैं, जिनमें गीति तत्व का पूर्ण उन्मेष प्रकट होता है। पर संस्कृत साहित्य में या इसके पूर्व गीति काव्य का यह रूप अविकसित है, जिसका भक्तिकाल में प्रकर्ष हुआ। संस्कृत

नाटकों में केवल नाटकीय गीतों के रूप में उसका साहित्यिक प्रयोग उपलब्ध होता है। अपभ्रंश काल में गीत और पाठ-काव्य का अन्तर स्पष्ट हुआ। जिसका श्रेय नाथों और सिद्धों की आध्यात्मिक वाणी को है, जिसने पद-साहित्य प्रवर्तन किया। उन्होंने जातीय जीवन से प्रेरणा ली थी, प्राचीन वाङ्मय से नहीं। हिन्दी के आदि-काल में उन वीर-गीतों की स्थिति भी दिखाई पड़ती है, जो प्राचीन गाथाओं पर आधारित थे। उनमें शौर्य की व्यंजना हुई है। सिद्धों और नाथों ने कथा का आधार नहीं ग्रहण किया, पर वीर-गीतों में वह स्वीकृत हुआ। अस्तु, हिन्दी के आदिकाल में आख्यानक और निराख्यानक दोनों प्रकार की गीति-सृष्टियाँ होने लगीं। ये रचनाएँ लोक-गीतों की पद्धति से विशेषतः प्रभावित थीं।

विशुद्ध गीति-काव्य के दो रूप दिखाई पड़ते हैं, साहित्यिक गीत और साधकों या योगियों के गीत। साहित्यिक गीतों की परम्परा जयदेव से आरम्भ होती है। जयदेव ने प्रेम की व्यंजना की और राग-रागिनियों का उपयोग किया। शृंगार का शास्त्रीय रूप लेकर बाद में विद्यापति और चंडीदास ने इसी परम्परा का विकास किया। आध्यात्मिक गीतों की पद्धति निवृत्तिमार्गी सन्तों ने अपनायी और उसका परिपाक कबीर के काव्य में उपलब्ध हुआ।

मध्ययुग में साहित्यिक गीतों की इन श्रेणियों के अतिरिक्त कथाश्रित वीर-गीत, शृंगारिक और भक्तिपरक गीत तथा निर्गुणोपासना के गीत रचे गये। संगीतात्मक गीतों की एक परम्परा लोक-जीवन में भी अक्षुण्ण रही। बैजू और तानसेन ने इसी परम्परा को स्वामी हरिदास के प्रसाद से शास्त्रीय रूप दिया। वह एक ओर दरबारी हो गयी और दूसरी ओर सगुण भक्तों की नवनवोन्मेष-शील प्रतिभा और ज्ञान-हारा भक्तिधारा की अभिव्यक्ति बनी। सूरदास ने ब्रजभाषा के लोक-गीतों, संगीतज्ञों के पदों और विद्यापति के साहित्यिक कृष्णगीतों को लेकर आत्मद्रवमय ऐसे गीतिकाव्य का प्रवर्तन किया, जो अभूतपूर्व था और जिसकी महती संभावनाएं उन्हीं की रचनाओं में प्रकट होने लगी थीं। साहित्यिक गीतों का चरम उत्कर्ष सूर के गीति-काव्य में चरितार्थ हुआ। मीरा ने आदर्श गीति-काव्य की रचना की, पर उनकी रचना साहित्यिक प्रतिमानों को लक्ष करके नहीं चली। उन्होंने लोक-प्रचलित गीति-काव्य का सहज रूप स्वीकार किया। सूर की गीति-धारा घाटों को निमज्जित करके बहने वाली गहन प्रवाहिनी है, तो मीरा की कविता उन्मुक्त निर्झरिणी। दोनों में आत्मीयता का भाव पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ दिखाई पड़ता है। माधुर्य की भावमयी सृष्टि करने वालों में तुलसीदास, अष्टछाप के कवि तथा भक्ति काल और रीतिकाल के अनेक भक्त हैं, तन्मयता जिनके काव्य की सर्वोपरिविशेषता है।

भक्ति काल के अनेक कवियों ने अपने आराध्य की लीलाओं का पदों के माध्यम से गान किया है। तुलसी की गीतावली और सूर का सूर-सागर इसके उदाहरण हैं। वे

रचनायें जो पद-बद्ध या संगीतात्मक हैं और जिनमें कवियों की आत्माभिव्यक्ति मुखर हुई है, शुद्ध गीतिकाव्य में परिगणित हो जाती हैं। पर क्या इतिवृत्त का आधार लेकर रचे गये पद भी गीति-काव्य माने जायेंगे ? क्या घटना, प्रसंग या परिस्थिति की योजना गीति-काव्य की सीमा में सम्भव है ? मैं समझता हूं कि जो कवि कथा न कहकर उसके मर्म-स्पर्शी-स्थल का चित्रण इस अभिप्राय से करता है कि वह अपने मनोवेगों को व्यक्त कर सके या उस पात्र के अन्तस्तल की मनःस्थिति उद्घाटित कर सके, जिसके साथ स्वयम् तादात्म्य स्थापित कर चुका है, अथवा उसकी अनुभूति पात्र की मनःस्थिति से अपृथक् है, तो वह रचना गीति-काव्य की श्रेणी में रखी जा सकती है। गीति-काव्य में अनुभूति, हार्दिकता और आवेगशील मनःस्थिति की अभिव्यंजना ही तो की जाती है। स्पष्टतः हम गीति-काव्य में कथा का उतना ही अंश नियोजित कर सकते हैं, जो रागात्मक आत्माभिव्यक्ति में बाधक न प्रमाणित हो। अतएव कथा का पदों या गीतों में सांकेतिक प्रयोग किया जा सकता है। वस्तु-वर्णना के स्थान पर भाव-व्यंजना को सजीव बनाने के प्रयोजन से कथा-क्रम का इंगित या निर्देश हो सकता है, पर वह केवल पीठिका के रूप में, जिस पर भाव उभर सकें। गीतों में जितना उपयोग रूप-चित्रण या प्रकृति-चित्रण का किया जा सकता है, उतना ही घटना-चित्रण या कथा-संकेत का। तुलसी और सूर ने यही किया है। आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त भी इसी प्रकार की गीति-रचना करते हैं। जहां कहीं उन्होंने निर्दिष्ट सीमा का अतिक्रमण किया है, वहां उनका गीति-काव्य क्षतिग्रस्त हुआ है। भक्ति-काल में आकर गीति-काव्य कोमल वृत्तियों का काव्य हो गया। उसमें पुरुष-भावनाएँ नहीं समा सकीं। वीर-गीतों में यह बात नहीं थी, पर वहां गीतों की शैली का प्रयोग पद्धति विशेष समझकर किया जाता था। वे आत्माभिव्यक्ति के साधन नहीं थे, अतएव शुद्ध गीत भी नहीं थे।

आधुनिक युग में व्यक्तिवाद का क्रमशः प्रसार हुआ। ब्रजभाषा के गीत मध्ययुगीन पद-परम्परा के नवीन विकास हैं, उनमें प्रगीत-तत्व का सन्निवेश नहीं हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भक्ति और राष्ट्र-प्रेम के गीत उपस्थित किये। श्रीधर पाठक ने राष्ट्रीय-भावना से प्रेरित होकर मातृभूमि का स्तवन किया। द्विवेदी-युग में जब-तब राष्ट्रीय या जातीय-भावना के गीत लिखे जाते रहे। प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने के समय हिन्दी में गीति-काव्य के नये रूप का, जिसे प्रगीत कहा जाता है, प्रवर्तन हुआ। सांस्कृतिक नवचेतना ही इसका कारण नहीं था, वरन् अन्यान्य भाषाओं का काव्य-स्वरूप भी इसकी प्रेरक शक्ति था, विशेषतः रवींद्रनाथ की कविता और अंग्रेजी का रहस्यवादी तथा रोमांटिक काव्य। प्रथम महायुद्ध और उसके पश्चात् साम्राज्यवाद की दमन-नीति, राष्ट्रीय नवचेतना का उन्मेष तथा पूंजीवादी सभ्यता का आगमन, संयुक्त रूप से हमारे यहाँ व्यक्तिवादी मनो-वृष्टि की स्थापना में सहयोगी हुए।

आधुनिक शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव, नागरिक जीवन की विषमता का उद्भव और यान्त्रिक सभ्यता के प्रसार के कारण मध्य-वित्त श्रेणी के कवि व्यक्तिवादी मनोवृत्ति से

अभिभूत होते चले गये। अवश्य ही उन्होंने स्वच्छन्द जीवन-दृष्टि अपनायी और भावात्मक जीवनादर्श को भी सम्मुख रखा, पर वे रहे व्यक्तिवादी और आत्मोन्मुखी ही। प्रगीतकाव्य के वे ही उद्भावक, सृष्टा और कलाकार हैं। इनका श्रीगणेश सन् १३-१४ ई. के लगभग हुआ और इसके आविष्कारक हुए उस समय के राष्ट्रीय मनोवृत्ति के कवि। उन्होंने आत्माभिव्यंजना का प्रकृत पथ पकड़ा और रहस्यवादी प्रवृत्ति के गीत भी लिखे। सन् १६-२० ई. के पश्चात् प्रगीत की वास्तविक शक्ति के दर्शन हुए, जब स्वच्छन्दचेता कल्पनाशील कवि अपने सौन्दर्य-बोध को प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति करने लगे। यही सौंदर्य-बोध आध्यात्मिक दीप्ति सम्पन्न होने पर भी कहीं केवल जागतिक था और कहीं दार्शनिक। ऐन्द्रिय धरातल पर उसकी अभिव्यक्ति प्रायः सन् ३० के बाद होने लगी। वह अपरोक्ष अनुभूति का काव्य था और व्यक्ति की महत्ता का प्रतिष्ठापक साहित्य-रूप भी।

सौन्दर्यानुभूति की स्वच्छन्द प्रक्रिया मर्यादावादी जीवन-दर्शन की प्रतिक्रिया समझी जा सकती है। प्रगीत काव्य-रूप के निर्माण में प्रत्यक्ष वस्तु-व्यापार को अनुभूति के माध्यम से प्रकट करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। पूर्ववर्ती गीतिकाव्य में भावाभिव्यक्ति विषयादि विवरणों को साधन बनाती थी। अतएव प्रगीतों में सांकेतिक शैली का व्यवहार अपरिहार्य हो गया। इस काव्य-व्यापार में स्थूल वस्तु सूक्ष्म भावचित्र के परिच्छेद में और सौंदर्य-प्रतिमान अरूपमयी विराट् सत्ता के छद्म में व्यंजित होने लगे।

गुप्त जी मुख्यतः कथाकार हैं, पर उन्होंने प्रगीत रचना भी की है। उनके प्रगीत प्रायः कथाश्रित हैं, कुछ स्वतंत्र भी हैं। पर वे प्रधानः वस्तुनिष्ठ कलाकार हैं। उनकी काव्यप्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं। गुप्तजी प्रगीत-रचना उसके आरम्भिक समय से ही कर रहे हैं, पर उनकी भावव्यंजना वस्तुमूलक ही रही है। 'झंकार' से लेकर 'रत्नावली' तक की रचना को देखें तो उसमें प्रगीत की प्रायः सभी विशेषताएँ दिखाई पड़ेंगी, पर छायावादी प्रगीतकारों से उनकी यदि तुलना की जाए तो पार्थक्य भी स्पष्ट होगा। उनके गीत भाव या सौन्दर्य की सूक्ष्म चित्रण-पद्धति के उदाहरण नहीं हैं। कई स्थलों पर उनकी पदावली गीति-काव्योचित नहीं जान पड़ती। वे कभी चमत्कार-साधन को लक्ष्य बनाते हैं और कभी सिद्धान्त-प्रतिपादन को। सौन्दर्य-संवेदन की अपेक्षा उन्होंने जीवन-मीमांसा को प्रश्रय दिया। वे प्रमुख रूप से प्रबंधकार हैं, अतएव प्रगीत रचना में वे वस्तुसत्ता को विस्मृत नहीं कर पाते। उन्होंने प्राचीन और नवीन सभी पद्धतियों के गीत लिखे हैं, प्रगीतों का विषय-विस्तार भी किया है, पर आत्म विवृत्तिपूर्ण रचना में कम ही प्रवृत्त हुए हैं। उन्होंने प्रायः प्रसंग-बंध को ध्यान में रखा है।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से लेकर सन् ३० के आसपास तक इस काव्य-रूप का वैभव-काल रहा है। सौन्दर्यवादी कवियों ने इसे अपनाया। प्रसाद, निराला और पंत, तीनों कवियों ने मुख्यतः प्रगीत का परिष्कार किया और उसे भव्य-कला का रूप प्रदान किया।

प्रसाद ने प्रगीतात्मक खंड-काव्य की सृष्टि की और भावों का माधुर्य अर्जित किया। निराला ने नवीन छन्द-शिल्प का और कोमल तथा परुष भावाभिव्यक्ति का स्वाभाविक किंतु दार्शनिक रूप उपस्थित किया। पन्त ने पदावली का परिमार्जन किया तथा आत्माभिव्यंजना का प्रकृत मार्ग अपनाया। महादेवीजी के आगमन के बाद प्रगीत संगीतात्मक हो गया और वह सर्वांशतः अन्तर्मुखी काव्य समझा जाने लगा। इसी समय प्रायः प्रमुख छायावादी प्रौढ़ि में प्रवेश कर रहे थे। उनका काव्य दार्शनिक सिद्धान्तों से ओत-प्रोत हो उठा। यद्यपि रहस्यवादी प्रवृत्तियां उनमें आरम्भ से ही थीं, पर उन्हें स्पष्ट रूप तभी प्राप्त हुआ। कुछ कवि जीवन की प्रत्यक्ष भूमि पर भी आ गए। पंत की मानववादी, प्रगतिवादी और अंतर चेतनावादी परिणतियाँ दिखाई पड़ती हैं। निराला का क्रमिक विकास भी उलट गया। सन् ३० के पश्चात् प्रगीत काव्य में मनोविज्ञान का एक और प्रवेश हुआ और 'तुलसीदास' तथा 'कामायनी' जैसी प्रगीत शिल्प की प्रबंध रचनाएँ लिखी गयीं, दूसरी ओर पन्त जी उपदेशात्मकता को अपनाने लगे। यहीं गीत गद्यात्मक भी होने लगे, पर वे लयाश्रित अवश्य रहे। बच्चन ने प्रगीत को व्यक्तिगत निराशा और भोगवाद की भूमि पर उपस्थित किया। प्रगीत को महादेवीजी ने प्रतीकात्मक बनाया और बच्चन ने सामान्य भाव-स्थिति की भूमिका प्रदान की। राष्ट्रीय, सांस्कृतिक विषयों पर प्रगीत-रचना भी होती रही। अंचल, नरेन्द्र और आरसी ने अतीन्द्रिय चित्रण के स्थान पर एन्द्रिय और मांसल- विवरणों को प्रगीत-काव्य रूप में नियोजित किया। अभिव्यक्ति को सहज, सरल बनाने के प्रयास होने लगे। गिरजाकुमार, नेपाली, केदारनाथ और परवर्ती नये कवियों ने अनेक रूपात्मक प्रयोग किये। उन्होंने अप्रस्तुत-योजना, छन्द-शिल्प, शब्द-संगीत, बिम्ब-विधान आदि को अपना लक्ष्य बनाया। संक्षेप में, प्रगीत ने औदात्य की भूमि में जहाँ प्रवेश किया, वहाँ वह साधारणता के धरातल पर उतर आने का उपक्रम भी करने लगा।

ज्यों-ज्यों कुंठित मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति प्रबल होती गयी, त्यों-त्यों प्रगीतात्मक रचनाएँ सामाजिक जीवन के निकट आती गयीं। हिन्दी में जब यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठीं, तब प्रगीत-काव्य-रूप का आकर्षण कम हो गया। अन्तश्चेतनावादी, प्रयोगवादी, या प्रपद्यवादी इसे प्रयुक्त करते रहे हैं। पर प्रगीत का वैभव-काल छायावाद-युग ही था। दूसरा उपयुक्त माध्यम न होने के कारण आज भी इसका प्रचलन है, पर प्रगीत का वास्तविक सौन्दर्य नष्ट प्रायः है। सामाजिक यथार्थवाद की कला आत्मोन्मुखी है ही नहीं। प्रयोगवादी नवीन काव्य-प्रयोग कर रहे हैं, प्रगीत-रचना उनका लक्ष्य नहीं है। प्रगीत के भीतर प्रतीकवादी, प्रकृतिवादी, बिम्बवादी, अतियथार्थवादी, अस्तित्ववादी, प्रभृति प्रवृत्तियाँ पनपती जा रही हैं। छायावाद की सौन्दर्यानुभूति को लेकर प्रगीत की धारा प्रवाहित हो रही है, पर वह क्षीण और विरल है। प्रगीत का प्रयोग बराबर हो रहा है, पर उसका भावोच्छ्वास से लेकर सूक्ष्म सौन्दर्य के कल्पना प्रधान और चिंतनशील गीतों तक जो विकास दिखाई पड़ा था, वह अपना गाम्भीर्य और मार्ग खो चुका है। काव्य में बुद्धिवादी तत्वों का प्रवेश, प्रगीत-कला के ह्रास का प्रमुख कारण यह है कि प्रगीत में

मनोभावों की जो सूक्ष्म और सप्राण निवृत्ति होती रही है, वह आयास-साध्य नहीं है, न दुहराई जा सकती है। स्वच्छन्द-जीवन-दर्शन का युग अब नहीं रहा। प्रगीत काव्य-रूप अब कोई नई परिणति प्राप्त करेगा। उसके लिये गान जैसे शब्द के आविष्कार की आवश्यकता हो सकती है, जो उसकी प्रवृत्तियों का स्पष्ट निर्देश कर सके। पर नई कविता न गीत है, न गान। वह तत्वबोधिनी हो गयी है। वह भाव-निष्ठ कम और तथ्यपूर्ण अधिक है।

और हाल में नव गीतों का प्रचलन हुआ है। ये रचनाएँ प्रगीत से भिन्न हैं और नई भी हैं। पर इसमें सहज भावात्मक अभिव्यक्ति प्रायः कम पाई जाती है और गेयत्व भी प्रायः संदिग्ध रहता है। नवगीत गहरे-उथले वास्तविक संवेदनों की आधुनिकता के बोध से समन्वित अर्थ-व्यंजना करने में मुख्यतः प्रवृत्त हुए हैं। अवश्य ही नई कविता की अपेक्षा नवगीतों में भाव-सन्निवेश अधिक है। पर वह बुद्धिवादी की अनुभूति है, जो विशिष्ट है,सामान्य नहीं। उसमें क्वचित् लोकगीतों की लयों का अंतर्भाव भी हुआ है,पर यह उसका अनिवार्य लक्षण नहीं है। उसमें छन्दोरचना का अनगढ़ और अपरंपरित प्रयोग हुआ है। वह व्यक्ति, समाज, नारी या प्रकृतिविषयक यथार्थवादी रचना-कार्य है, जिसे मुख्यतः जीवन की वास्तविकता को भोगनेकी अभिव्यक्ति समझा जायगा। उसके संत्रास संबंधी सौंदर्यसंस्कार अभी इतने नए हैं कि इसी कारण उनमें पर्याप्त आकर्षण का अभाव पाया जाता है। उनमें विशेषत्व और निरालापन है, जो वस्तु सत्य के भद्देपन को लिए हुए है। गीत वस्तुतः सामान्य भाव-भूमिकी रचना हैं, असामान्य मनःस्थित का व्यक्तिकरण नहीं। नवगीत की भाव-भूमि विशिष्ट है तथा काव्य-वस्तु है जीवन का सामान्य अपदार्थ। अभी इस रचना-कार्य की भूमिका प्रयोगात्मक है, जो आधुनिकता, यथार्थ-बोध और नव्यता के उपकरणों से सज्जित है। उसमें गीतात्मकता की तरलता या आर्द्रता का अंतर्भाव अभी नहीं हो पाया है। वह गरिमा, मार्दव या प्रसन्नता से युक्त भी नहीं है। उसमें साभास और चमत्कृत आकुंचन या आवर्जन ही अंतर्भुक्त है। संक्षेप में, नवगीतों की यह पद्धति भाव-संवलित नहीं है। वह तो मनस्थितियों की चित्रण-पद्धति है, जिसमें यथार्थ जीवन के विकारग्रस्त सौंदर्य को रूपायित किया जाता है और संबद्धता जिसका गुण है। निश्चय ही यह प्रगीत की गौरवमयी परिणति नहीं है।

प्रगीत के इस विकास क्रम को देख लेने के पश्चात् अब हम इसके अन्तर्भूत तत्वों का विश्लेषण करसकते हैं। आत्माभिव्यंजना ही प्रगीत का मूलभूत तत्व है। भाव की एकात-नता और तीव्रता भी आवश्यक है। प्रगीत में भावना उच्छ्वसित होती है, वर्ण्य नहीं होती। आत्मानुभूति प्रगीत की विषय-वस्तु है, जिसमें जितनी नवीनता, ताजगी और सचाई होगी, वह उतनी ही आह्लादिनी होगी। प्रगीत में यद्यपि सदैव राग-रागिनियों का आश्रय नहीं लिया जाता, पर काव्य-भावना और पदावली की लयात्मकता में अविभाज्य समता, एकता और समन्वय की उपादेयता असंदिग्ध समझी जाती है। उसमें प्रभावान्विति होनी ही चाहिये, पर प्रगीत में न एकाधिक भावना की स्थिति सम्भव है, न उद्देश्य-बहुलता काम्य।

गेय-तत्व उसका परिच्छेद, भावावेग अंतस्फुरण । प्रगीत की पदयोजना लालित्य-पूर्ण हुआ करती है तथा कठोर भाव या परुष वृत्तियाँ उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं होतीं, अतएव उनकी न्यूनता रहती है । प्रगीत माधुर्य की सृष्टि है । यह छायावादी काव्य-रूप है । छायावादियों ने संगीत तत्व का विनियोग करते हुये अपनी व्यक्तिगत अनुभूति की प्रगीता-त्मक अभिव्यक्ति की है । प्रगीत के माध्यम से सांकेतिक सौन्दर्य-चित्र अंकित किये गये हैं । यह प्राकृतिक, लौकिक और अध्यंतरित या रूपाकत्मक सौंदर्य-प्रतिमानों की संश्लिष्ट चित्र-योजना करने की पद्धति थी । सूक्ष्म चित्रण-कला के द्वारा भावात्मक बिम्बविधान किया जाता था । संवेदना सौन्दर्य की थी और कल्पना थी लोकोत्तर । स्थूल वर्णन और कठोर मनःस्थितियाँ दोनों ही उसमें प्रायः त्याज्य थीं । प्रगीत में अन्तरवृत्तियों के शब्द-चित्र रम-णीय उपादानों से निर्मित हुए थे और उनके आलंबन भी मनोरम थे । दार्शनिक अनुबंध के साथ-साथ प्रगीत को माधुर्य का प्रतिबंध भी स्वीकृत हुआ । पदावली का परिशोधन, परिमार्जन और संयमन इस परिमाण में किया गया कि नयी काव्य-भाषा का आश्चर्यो-त्पादक संस्कार सम्भव हुआ । प्रगीत-काव्य का भीतर और बाहर सब कुछ नयी कला से व्युत्पन्न और नवीन जीवन-दृष्टि से अनुप्राणित दिखाई पड़ा । निराला की ओजमयी मुक्तवाणी ने उसके मार्दव की सीमा का विस्तार किया । उसमें औदात्य और गरिमा का प्रवेश भी हुआ ।

प्रगीत की परिभाषा क्या है ? क्या उसे व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति का शब्द-रूप ही कहा जाए, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके ? क्या लोकगीत, सामूहिक गीत या समाजवादी गीत इस श्रेणी में आ जायेंगे ? अवश्य ही छायावादी प्रगीत की इसमें व्याख्या हो गयी है । गीत को रागमयी कल्पना का उद्वेलन कहा गया है । भाव का लयात्मक स्फोट भी इस कथन की पुनरुक्ति है । प्रगीत को हम लोक-सामान्य अनुभूति से पृथक् न रखते हुए भी कहेंगे कि वह कवि के सौन्दर्य-संवेदन की माधुर्य-पूर्ण आत्माभिव्यंजना है । सुगेयता को हम कवि की तल्लीनता या तन्मयता का परि-णाम समझते हैं । सौन्दर्यानुभूति के अपने प्रतिमान होते हैं और वे प्रगीत की काव्य-वस्तु कहे जा सकते हैं । उदात्त सांस्कृतिक चेतना के ह्रास के साथ-साथ प्रगीत की उपयोगिता भी कम हो रही हैं । दार्शनिक प्रवृत्तियों और उदात्त भावनाओं के स्थान पर यथार्थवादी विचार तत्व और कुंठित चित्तवृत्तियों के साहित्य में उभर उठने पर प्रगीत का स्वच्छन्द रूप स्वभावतः रुग्ण हो गया है , उदाहरणार्थ बच्चन के गीत । वैयक्तिक चेतना जैसी होगी, प्रगीत की सृष्टि भी उसी प्रकार की होगी । कवि का आत्मत्व कहिए या व्यक्तित्व या अहंता प्रगीत की सर्जना करती है । बौद्धिकता का आधिक्य भी प्रगीत को गरिष्ठ बना देता है । कल्पना शील या भावुक प्रकृति प्रगीत सृष्टि केलिए अनिवार्य हुआ करती हैं । बुद्धिवादी व्यक्ति उसे उपदेश-निष्ठ या अलंकृत या सिद्धान्त-व्याख्या बना देगा, प्रकृत काव्य नहीं रहने देगा । बुद्धि-विशिष्ट प्रगीत तभी सम्भव है, जब वे आत्म-तत्व से शून्य न हों, यथा निराला के कतिपय गीत । प्रतिकूल उदाहरण के रूप में पन्त के अरविन्दवादी गीत रखे

जायेंगे। असंतुलन मनःतत्व का हो सकता है और जीवन-दृष्टि का भी। अतिश्रृंगारिकता, रूपलिप्सा, या भोगैषणा आदि दूसरे प्रकार के असंतुलन हैं। कोरा भावावेश श्रेष्ठ प्रगीत की सृष्टि नहीं करता, अन्यथा दिनकर और भगवतीचरण, प्रसाद और निराला से कहीं बड़े प्रगीतकार माने जाते।

इस निबन्ध के अन्त में हम प्रगीतों का वर्गीकरण करना चाहेंगे। विषय, शैली और आकार की दृष्टि से प्रगीत के अनेक भेद हो सकते हैं। हिन्दी में प्रगीतों के विषय के अनुसार-प्रेम-गीत, रहस्यवादी-गीत, प्रकृति-गीत, शोक-गीत, जीवन-मीमांसाके गीत, राष्ट्रीय गीत, वीर-गीत, व्यंग्य-गीत आदि रूप दिखाई पड़ते हैं। अंतरा-टेकसे युक्त प्रगीत सुगेय होते हैं और वे शुद्ध संगीतात्मक कविताएँ सामान्यतः प्रगीत कही जा सकती हैं। उन्हीं को प्रगीतात्मक मुक्तक कहने की परम्परा चल पड़ी है। उन्हें केवल प्रगीत कविता कहने में कोई हानि नहीं है। आकार की दृष्टि से लघु, प्रलंब और मध्यवर्ती वर्ग स्थिर किये जा सकते हैं। शैली की दृष्टि से समवेत-गीति, प्रगीति-प्रबन्ध, चतुर्दश-पदी, पत्रगीति, संलाप-गीति, संबोध-गीति, गीति-नाट्य, प्रभृति वर्ग स्थिर होंगे। निश्चय ही इन प्रकारों में अंग्रेजी के गीति-काव्य के उन भेदों का समावेश हो जाता है, जो प्रगीतकारों के द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। भावों और चित्रणों के आधार पर तथा मत या सिद्धान्तों के अनुसार भी प्रगीतों के कतिपय भेदोपभेद किए जा सकते हैं।

आधुनिक काव्य में छायावाद-युग अपने कलात्मक प्रकर्ष के कारण हिन्दी में अद्वितीय है। प्रगीत-काव्य इसी युग की साहित्यिक उपलब्धि है। यही वह काव्य-रूप है, जिसमें नवयुग की आत्मानुभूति अपने समस्त सौंदर्य-संस्कारों और राष्ट्रीय उपकरणों के साथ सांस्कृतिक धरातल पर अवतरित हुई है। प्रगीत काव्य व्यक्तिवादी स्वच्छन्द जीवन-दर्शन का प्रतिफलन है, पर यह महत् काव्य के लक्षणों से युक्त भी है। इस युग की नव्य चेतना और कला की भव्य साधना दोनों ही प्रगीत काव्य में नियोजित हुई हैं। निश्चय ही प्रगीत का अद्यतन विकास उसे तथ्य निरूपक गान के निकट ले जा रहा है। वह नवगीत के नव्य रूप को भी अपना सका है। यह उसकी नवीनतम परिणति है। क्या इसमें भी श्रेष्ठ कलात्मक उपलब्धियों की सम्भावनाएँ निहित हैं? सामूहिक भावों के प्रतीक साहित्यिक गीतों की अपेक्षा की ही जानी चाहिए। पर नए गीत चौंकाने वाले वास्तविक, विशिष्ट और और अनगढ़ अधिक हैं। प्रगीत-कला तो आत्माभिनिवेशमयी वस्तु है। उसमें जीवन के व्यापक और सूक्ष्म सौन्दर्य की प्राण-धारा ही तो दीख पड़ती है, जो अब अपनी रूपच्छवि को मोटी रेखाओं में अँटाती जा रही है।

१५

प्रगतिवाद : सिद्धांत और उपलब्धि

: १ :

व्यक्तिनिष्ठ प्रवृत्तियाँ प्रायः स्वच्छंद और कल्पनाशील हो जाती हैं। जीवन की वास्तविकता के प्रति वे उतनी सजग नहीं दिखाई पड़ती, जितनी वे अपनी भावात्मक सत्ता के प्रति होती हैं। उनमें जन-हित की दृष्टि प्रमुख नहीं रह पाती, किन्तु सौंदर्य-चेतना विशेषतः प्रबुद्ध हो जाती है। ऐसा साहित्य भावात्मक जीवन-दर्शन से अनुप्राणित होता है। उसमें जीवन की स्थूल आवश्यकताओं के स्थान पर मानवीय अनुभूतियों का सूक्ष्म आलेखन होता है। ऐसी कृतियों का सामाजिक मूल्य अतिशय संदिग्ध ज्ञात होता है। इन्हें वर्ग-विशेष की मनोवृत्तियों ने सीमित सामाजिक उपयोगिता की वस्तु बना दिया है। ये रचनाएँ लोक-मंगल-विधायिनी न होकर आत्म-परक, स्वच्छन्दतामुखी और भावात्मक आदर्शों से युक्त होती हैं। प्रगतिवादी जीवन-दर्शन का साहित्यिक प्रवर्तन स्वच्छंदतावादी साहित्य के धारा-प्रवाह का अवरोध करने के लिए हुआ। प्रगतिवाद ने जीवन की स्थूल वास्तविकता को महत्वपूर्ण समझा, यह यथार्थवादी विचार-सरणी थी, जिसने व्यक्ति के स्थान पर समाज को, भाव के स्थान पर तथ्य को, अव्यक्त के स्थान पर व्यक्त को और आदर्श के स्थान पर यथार्थ को प्रतिष्ठित किया। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के अंतर्गत सर्वहारा की वर्ग-चेतना और समूह-भावना का इसने प्रतिनिधित्व किया। पूर्ववर्ती साहित्य इसे अवास्तविक परोपजीवी व्यक्तियों की मानसिक अवस्था का निदर्शक ज्ञात हुआ। कदाचित् हमारा जटिल सामाजिक जीवन इस प्रकार स्पष्ट रूपेण विभाजित नहीं किया जा सकेगा। यह मंतव्य सापेक्षिक दृष्टिकोण से ही सत्यांश-भरा ज्ञात होता है। संप्रति व्यक्तिवादी और समाजवादी प्रवृत्तियों का साहित्य अंततः विभक्त हो गया है, पर ये दोनों ही यथार्थ-बोध से स्पंदित संचालित हैं। एक का पक्ष व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सह अस्तित्व का है तथा दूसरे

का पक्ष सामाजिक समता और आर्थिक क्रांति का। एक का मानववाद व्यक्ति से आरंभ होकर संगठित समाज में पर्यवसित होता है तथा दूसरे का मानववाद समाज से आरंभ होकर व्यक्ति की सामूहिकता में परिणत। हम यह नहीं कह सकेंगे कि मतवाद के रूप में एक ही विचार-पद्धति सत्य या काम्य है तथा दूसरी असत्य या वर्ज्य।

सामाजिक विकास को प्रकाशित करने की दृष्टि से ही उपर्युक्त विचारणाएँ साहित्य में मूल्यवती होती हैं। समता और स्वातंत्र्य, सहयोग और प्रेम, संघर्ष और व्यवस्था, वस्तु और भाव, दोनों ही एक-दूसरे के परिपूरक हैं। स्वच्छंदतावाद के प.चात् समाजवादी यथार्थवाद का आगमन युग-चेतना का रूपान्तरण था। पर यथार्थ-बोध की समूहवाची और व्यक्तिवादी भूमिकाएँ इसी भांति एकांततः विषम नहीं हैं। मैं समझता हूं कि ये प्रगतिवादी और मानववादी चिन्तन की धाराएँ हैं, जिन्हें एक सीमा तक साथ-साथ भी रक्खा जा सकता है, क्योंकि लोक-कल्याण और मानवोत्कर्ष दोनों ही काम्य हो सकते हैं। भारत की राष्ट्रीय विचार-धारा यही व्यापक दृष्टिकोण रख रही है, जहां समाजवादी समाज-रचना के लक्ष्य को प्रजातंत्रात्मक राज्य-व्यवस्था ही प्रत्यक्ष करना चाहती है। हमारा साहित्यिक भी सामाजिक लक्ष्योद्देश्यों को वैयक्तिक जीवन के अनुभूत सत्य के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। हमारी यह राष्ट्रीय चेतना निस्संदेह समन्वय-मूलक है, जिसने अतिवादी जीवन-दृष्टियों को न अपनाकर मानववादी जनवाद को प्रतिष्ठित किया है। यहाँ मताग्रह-प्रधान नहीं हैं, प्रधान है समाज का हित और इस कारण भारतीय साहित्य मतवादी कला-सृष्टि की अपेक्षा अधिक साहित्यिक तथा व्यावहारिक भूमिका पर रचा जा रहा है। संघर्ष की नहीं, यह सहयोग की वाणी है। हिमालय की लड़ाई ने अनेक प्रबुद्ध समाजवादी लेखकों को राष्ट्रवादी स्वर मुखरित करने के लिये विवश किया है, यथा नागार्जुन। भारत की सांस्कृतिक विशेषता ने प्रगतिवाद को यह नई अर्थ दीप्ति प्रदान की है।

: २ :

मुख्यतः साहित्य हमारी अनुभूतियों की ही वाणी है, पर इन अनुभूतियों को कभी हम जीवन की परिस्थितियों से ग्रहण करते हैं या कभी जीवन की परिस्थितियाँ ही हमें अनुभूति-प्रवण बनाती हैं। इस भांति व्यापक जीवन-साहित्य का प्रसार-क्षेत्र या विषय-वस्तु ज्ञात होता है। इसे देखने, समझने और अनुभव करने की अनेक पद्धतियाँ हो सकती हैं, जो सामाजिक संस्कृति के अनुरूप अपना-अपना स्वरूप स्थिर करती हैं। उसी को जीवन का दर्शन कहा जाता है। ये दार्शनिक पद्धतियाँ कभी एक तत्व को और कभी दूसरे को प्रधान मानकर जीवन के सत्य का बोध करती या कराती हैं। प्रत्येक सारवान् रचना या साहित्यिक कृति किसी न किसी दर्शन-पद्धति से अनुप्राणित रहती है। अतएव दर्शन प्रत्यक्षतः साहित्य का प्रतिपाद्य विषय न होकर भी उसके भीतर आत्म-चेतना की भाँति परि-व्याप्त है। इसे साहित्यिक की जीवन-दृष्टि या उसका तत्व-दर्शन कहा जाता है। पर एक सीमा तक ही

इसका महत्व है और वह यह है कि इसे युग, समाज, इतिहास या जीवन का बोध ही माना जाए और साहित्य के पोषक तत्व के रूप में यह गृहीत हो। अन्यथा साहित्य शास्त्र बन जायगा या मतवाद का प्रचार मात्र। और उसका वास्तविक स्वरूप भी सुरक्षित नहीं रहेगा।

मार्क्स का दर्शन है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। इसके अनुसार जगत् का प्रत्यक्ष या भौतिक रूप ही सत्य है। सत्ता वस्तु की या पदार्थ जगत् की है। विचार उसी का प्रतिरूप है। यह हीगेल की मान्यता का खंडन था, जिसने विचार को सत्य और जगत को उसकी प्रतिकृति समझा था। पदार्थ जगत् ही सत्य है, आत्मा, विचार या भाव नहीं। ये तो भौतिक सत्ता के परिणाम मात्र हैं। भौतिकवाद को सिद्ध करने की तर्क-पद्धति द्वन्द्वात्मक है, अतएव इसे यहाँ विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया। आत्मा, बुद्धि या विचार पदार्थ जगत् के ही विकास हैं। उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, अतएव वे असत्य हैं। भौतिकता का सिद्धान्त तात्विक दृष्टि से चेतन के ऊपर जड़ तत्व की सत्ता को स्थापित करने का सिद्धांत है।

मूलभूत तत्व है सत्ता, जो वस्तु जगत् है। चेतना इसी का विकार है। समाज की सत्ता परिणाम-स्वरूप है और सामाजिक चेतना उसी का विचार या प्रतिफल है। सामाजिक चेतना या व्यक्तिगत चेतना जैसी किसी सत्ता का मौलिक अस्तित्व नहीं है। ये वस्तु प्रक्रिया के केवल परिणाम हैं। अतएव मानव-जीवन का व्यक्त और प्रत्यक्ष रूप ही सत्य है। इसी सत्य का परिज्ञान जीवन का यथार्थ-बोध है। यही सत्य तत्वभाव या बुद्धि-विषयक चेतना का निर्धारण करता है। इसी कारण सामाजिक यथार्थ साहित्य, दर्शन या शास्त्र विशेष का नियामक ही नहीं, सृष्टा भी होता है।

मार्क्स सृष्टि के अंतर्गत दो तत्वों की स्थिति मानता है। दोनों मूलभूत किन्तु आत्यंतिक विषम तत्व हैं। दोनों में शाश्वत संघर्ष होता रहता है। वस्तु जगत् ही सत्य है। पर जगत् की प्रत्येक वस्तु में इन परस्परा विरोधी तत्वों की स्थिति विद्यमान है। एक है धन, या पाजीटिव तत्व, जो विकासशील होता है। दूसरा तत्व ऋण या नेगेटिव तत्व है, जो ह्रासशील या नाशवान् होता है। इन्हीं का द्वन्द्व या संघर्ष जीवन-विकास या जगत् की गति का रहस्य है। पदार्थ जगत् ही सत्य है, पर प्रत्येक वस्तु की द्वन्द्वपूर्ण अवस्थिति के कारण वह चिर परिवर्तनशील भी है। सत्ता वस्तु की है अवश्य, पर उसके गतिशील अस्तित्व की ही सत्ता है। वस्तु का अवस्थान या थिसिस विरोधी तत्वों से स्वाभाविक और अस्तित्व-विषयक संघर्ष करता हुआ प्रत्यवस्थान या एंटीथिसिस को प्राप्त होता है। आशय यह है कि अनुकूल परिस्थिति प्रतिकूल अवस्था को प्राप्त होती है। पर यहाँ भी संघर्षशील गतिमयता सक्रिय रहती है। अंततः दोनों तत्वों में आंतरिक संतुलन स्थापित हो जाता है। यह समन्वयात्मक स्थिति है, जिसे सिन्थिसिस या सम-अवस्थान कहते हैं। यह स्थिति भी स्थायी नहीं होती। इसमें पुनः विरोधी तत्व सक्रिय हो

उठते हैं और मरणशील तत्वों का नाश तथा विकासशील तत्वों का उत्कर्ष स्पष्ट होता है। यहाँ परमाणु तक की सत्ता अपरिवर्तनशील नहीं है। समस्त पदार्थ जगत् और उसके सृष्टि-क्रम में गतिमयता की अटूट व्यवस्था क्रियमाण रहती है। इस गति का रहस्य द्वन्द्व है, अतएव भौतिकवाद का 'द्वन्द्वात्मक' विशेषण स्वाभिप्राय और सार्थक है।

यह द्वन्द्वमयी गतिशीलता व्यर्थ नहीं है। परिवर्तन विकास का द्योतक है, क्योंकि ऋणतत्वों का निरंतर निराकरण सृष्टि-क्रम के अंतर्गत होता ही रहता है और धन तत्व संघर्ष के द्वारा ही प्रकर्ष की प्राप्ति करते हैं। नित्य निरंतर परिवर्तन के फलस्वरूप वस्तु-जगत् में जो विकास होता रहता है, वह आरंभ में परिमाण की वृद्धि के रूप में दिखाई पड़ता है। परिमाण-वृद्धि ही गुण-वृद्धि का भी कारण वन जाती है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक संघर्ष विकास का कारण होता है और प्रत्येक विकास पूर्ववर्ती अवस्था का उन्नयन।

उपर्युक्त परिवर्तन-क्रम अनवरत ही नहीं, अपरिहार्य भी है। विरोधी तत्वों का पारस्परिक संघर्ष जीवन की गति है और विकास उसका प्रतिफलन। यह विकास क्रम अव्याहत या अटूट है, पर क्रमिक नहीं। यह क्रांति-जन्य है। मरणशील तत्वों के समग्र विनाश पर ही विकासशील तत्व नवीन सत्ता का रूपाकार धारण करते हैं। नवीन सत्ता परिमाण, गुण और स्वरूप सभी में अपनी पूर्ववर्ती अवस्था से नितांत भिन्न होती है। विनाश ही निर्माण की भूमिका है। अतएव यहाँ रचना और समझौते का नहीं, क्रांति और विध्वंस का विकास-पथ उन्मुक्त होता है। इसी कारण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रगति का सिद्धांत है अवश्य, पर वह प्रगति समन्वयात्मक व्यापार न होकर एक विरोधात्मक प्रक्रिया है, वैचारिक उदारता न होकर ऐतिहासिक अनिवार्यता है तथा मानवीय प्रेम और अहिंसा से संबंधित न होकर सामाजिक संघर्ष और सार्वत्रिक क्रांति से अनुप्रेरित वस्तु है। विकास मूलतः और प्रत्यक्षतः परिमाण का होता है, गुणात्मक विकास तो उसका परिणाम मात्र है।

: ३ :

द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन की धारणा के आधार पर समाज के क्रमबद्ध विकास का और व्यक्ति तथा व्यक्ति के किंवा व्यक्त तथा समाज के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण तथा विवेचन किया गया। इसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा गया। इस मतवाद में स्पष्टतः व्यक्ति-चेतना के आधार पर व्यक्ति का अस्तित्व सिद्ध ही नहीं होता। व्यक्ति का अस्तित्व सामाजिक वस्तु है और उसी पर उसकी चेतना निर्भर करती है, अर्थात् सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति की रुचि, मति और प्रवृत्ति तथा विचारणा और संवेदना का निर्धारण करती हैं। भौतिक परिस्थितियाँ या सामाजिक जीवन का स्वरूप मानव-चेतना का नियंता है। पर भौतिक परिस्थितियाँ परिवर्तनमयी हैं, अतएव समाज का

स्वरूप तथा संगठन भी बदलता रहता है। परिस्थितियाँ समाज को रूपायित तथा नियंत्रित करती हैं, जो स्वयं भी मानव-चेतना का नियमन किया करता है। भौतिक परिस्थितियाँ समाज-व्यवस्था को संगठित करती हैं और सामाजिक संगठन व्यक्ति-चेतना का निर्धारण। आशय यह है कि साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति, इत्यादि भौतिक जीवन की वास्तविकता के अनिवार्य परिणाम हैं। उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ये सभी गतिशीलता की नित्यता के परिणाम-स्वरूप विकासशील हैं। अंततः इनका अस्तित्व समाज-सापेक्ष है, जिसमें स्थिति की अपेक्षा गति का तत्व प्रधान रहता है। अतएव साहित्य, संस्कृति और विविध बौद्धिक कार्य-व्यापार समाज की चेतना को ही प्रकाशित करके गति के ऐतिहासिक सत्य के प्रति प्रामाणिक सिद्ध हो पाते हैं। संक्षेप में, सामाजिक परिस्थितियाँ सांस्कृतिक चेतना की नियामक हैं। स्थूल और बाह्य वास्तविकता सूक्ष्म और आभ्यंतर जगत् का उपादान करती हैं। सत्ता स्थूल की है, सूक्ष्म की नहीं, पदार्थ की है, चेतना की नहीं।

परिवर्तन की नित्यता और शाश्वत संघर्ष की अवस्थिति के कारण जीवन की कोई स्थिति, समाज का कोई संगठन तथा राज्य की कोई विधि-व्यवस्था सर्वकालिक सत्य नहीं होती। पदार्थ जगत्, मानव-समाज, रीति-नियम, आचार-विचार, संस्कृति-दर्शन, साहित्य-कला, सभी का गति-प्रवाह अव्याहत है। इसी कारण कोई भी विचार, नियम या रचना-कार्य स्वतंत्र या स्थायी मूल्य का अधिकारी नहीं है। समाज और व्यक्ति का पारस्परिक संबंध निरंतर बदलता रहता है। नीति, धर्म, दर्शन, साहित्य या संस्कृति, सभी का सामाजिक सत्ता से सापेक्षिक संबंध है। इनका अस्तित्व ही वहिर्वस्तु की सत्ता पर आधारित है। अतएव किसी भी विचारणा, नियम या धारना का निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। समाज की भौतिक स्थितियों के साथ-साथ उसकी नैतिकता, साहित्यिक दृष्टि, शासन-पद्धति तथा नाना प्रकार की संगठन-संस्थाएँ बदलती जाती हैं। अभिप्राय यह है कि अर्थ व्यवस्था के आधार पर ही समाज और राजनीति, धर्म और दर्शन, नीति और अध्यात्म तथा साहित्य और अन्यान्य कलाओं की स्थिति संघटित होती है तथा आर्थिक क्रांतियों के फलस्वरूप समस्त सांस्कृतिक उपकरणों में भी परिवर्तन हो जाते हैं। उपार्जन के तौर-तरीके भीतरी और बाहरी सारी जीवन-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। अतएव साहित्य तथा संस्कृति का अनुशासन अर्थ-व्यवस्था ही करती रहती है। पर समाज की अर्थ-व्यवस्था और उसकी उपार्जन-पद्धतियाँ बराबर बदलती रहती हैं। फलतः जीवन की धारणाएँ निरंतर परिवर्तित रहती हैं, जो साहित्य के विकास का भी नियंत्रण किया करती है। निश्चय ही युग-विशेष की सामाजिक व्यवस्था उस युग के साहित्य की नियामक ही नहीं है, बल्कि उस युग के साहित्य को पैदा भी करती है। साहित्य परिस्थितियों की ही उपज है। मार्क्स का कथन है कि मानवीय मस्तिष्क की सभी सृष्टियों की भाँति साहित्य का समाज की अर्थ-व्यवस्था अथवा उत्पादन के तरीकों द्वारा ही अंततः नियमन होता है। कॉडवेल ने भी काव्य को तत्वतः जातीय, राष्ट्रीय, आनुवंशिक या विशिष्ट वस्तु न मानकर आर्थिक उत्पादन स्वीकार किया है। अन्यान्य समाजवादी विचारकों ने इस अतिवाद को थोड़ा

शमित किया है। उनके अनुसार अर्थ-व्यवस्था प्रत्यक्षतः नहीं, बल्कि परोक्षरूप से साहित्य का नियमन करती है, जो किसी न किसी वर्ग के अंतर्गत अवस्थित होती है। उसमें स्वभावतः वर्ग चेतना विद्यमान होती है। इसी वर्ग की मनोवृत्ति को वह साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से समाज विशेष की आर्थिक अवस्था ही साहित्यका नियंत्रण किया करती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर साहित्य को वर्ग-विशेष की सृष्टि समझा गया। वर्गहीन साहित्य की सृष्टि वर्गहीन समाज में ही संभव होती है अर्थात् वर्गयुक्त समाज में वर्गवादी साहित्य ही रचा जा सकता है। सर्वहारा का साहित्य ही इस दृष्टि से वर्ग-मुक्त भाव-चेतना का स्वस्थ और गतिशील आलेखन होता है।

: ६ :

साहित्य न सर्वतंत्र स्वतंत्र वस्तु है, न उसकी समाज-निरपेक्ष सत्ता है। युग-चेतना और वर्ग-भावना से वह सतत संबद्ध होता है। और उसी का वह प्रतिनिधित्व भी करता है। परिणामतः साहित्य में सामूहिक मनोभावों की ही अभिव्यक्ति होती है, वैयक्तिक अनुभूतियों की नहीं। सत्ता वस्तु की या वाहरी परिस्थितियों की है, अतएव उन्हें उपयुक्त दिशा में अग्रसर करने के लिए, जैसे युद्ध में अथवा संकटकालीन उत्पादनादि के रूप में सामूहिक चेतना को संगठित और सक्रिय किया जाता है। यहाँ मनुष्यों को प्रत्यक्ष वस्तु की धारणा न जताते हुए उद्देश्य की भविष्यद्-कल्पना समझाई जाती है, जिससे समूह-भावना ऊर्जस्वित हो जाए और काम में तेजी आए अन्यथा वस्तु सत्य का परिज्ञान उन्हें ऊहापोह की स्थिति में छोड़ देगा। संसार भर में मजदूर ही राज्य करेंगे अथवा मानव-समुदाय का एक ही वर्ग बन जाएगा तथा कहीं कोई विषमता नहीं रह पाएगी अथवा आक्रमण द्वारा दूसरे देश को पूंजीवाद के अत्याचारों से मुक्त किया जाएगा, प्रभृति उद्देश्यों की अवस्तु-मत्ता या कल्पना से भ्रांति उत्पन्न होती है, जो मन में लक्ष्य की सत्ता देखती है, पर जो वस्तु-जगत् में प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं रखती। इस दूरवर्ती लक्ष्य से प्रेरित होकर मानव की संकल्प-शक्ति प्रवर्तित हो जाती है, सामूहिक भावना प्रपुष्ट बनती है तथा कर्म-प्रवृत्ति प्रकर्ष प्राप्त करती है। लक्ष्य की सुखद कल्पना का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, पर सामूहिक भावों की इसी प्रकार साहित्यिक अभिव्यक्ति की जानी चाहिए, जो मानव की श्रम-प्रवृत्ति को उभारे और समुपस्थित कष्टों को भोगने के लिए उसे तैयार रक्खे। भविष्य की कल्पना सामूहिक भ्रांति की अवस्था पैदा करती है, जो सामूहिक संगठन और उत्पादन के लिए आवश्यक होती है। इसी के प्रति साहित्यकार प्रतिश्रुत है और यही उसका दायित्व है। यदि वह ऐतिहासिक आवश्यकता के अपने इस कार्य को भलीभांति संपादित कर पाया तो उसे सामाजिक प्रगति का पोषक समझा जाएगा, अन्यथा वह ह्रासशील या प्रतिक्रियावादी रचनाकार कहलाएगा, जिसका समुचित सामाजिक उपयोग न हो पाने के कारण वह दंडनीय समझा जाएगा। इस प्रकार अप्रत्यक्ष ढंग से कला या

साहित्य आर्थिक उत्पादन ही सिद्ध होता है। सारांश यह है कि सामाजिक प्रगति में सहयोग देनेवाली रचनाएँ प्रगतिवादी कही जायेंगी और उसकी प्रगति का पोषण न करने वाली किंवा उसमें बाधक सिद्ध होने वाली कृतियाँ क्रमशः ह्रासशील या समाज-द्रोही करार दी जायेंगी।

भाव-मूलक या आत्मवादी दर्शन की प्रतिक्रिया यहाँ स्पष्टतः अनावरित हो जाती है। व्यक्तिवाद की रेशमी ग्रंथियाँ यदि एक वैचारिक अतिरेक था तो समाजवाद का इस्पाती सांचा दूसरा सैद्धांतिक अतिरेक है। मानव बूंद भी है और समुद्र का क्षुद्र अंश भी। वह समाज का अंग भी है और व्यक्ति भी। अतिवादी दृष्टियाँ उसकी वास्तविक सत्ता का संदर्शन नहीं कर पाईं। रक्त-मांस ही सत्य नहीं, न वायवी चेतना ही सत्य है। दोनों का समंजित समीकरण ही मानव सत्य है। आत्मा की सत्ता शरीर के माध्यम से व्यक्त होती है और शरीर के अस्तित्व का कारण या रहस्य आत्मा है। दोनों परस्परावलंबित हैं। निवेदन यही है कि अतिवाद या मताग्रह सत्य के शोध का सही रास्ता नहीं है।

पर जब प्रजातंत्र और समाजवाद की राज्य-व्यवस्थाएँ इन्हें अपना मूल दर्शन बना लेती हैं तो वैषम्य बढ़ता ही है। व्यवहार में आते ही सिद्धांत स्वतः जड़ हो जाते हैं। मानव-विकास क्या सामाजिक प्रगति मात्र है या वह वैयक्तिक उत्कर्ष भी है। व्यक्तिवादी सामाजिक प्रगति के द्वारा ही वैयक्तिक विकास को संभव मानते हैं। दोनों ही अपने आपको मानववादी कहते हैं, पर मैं समझता हूं कि मानव का यह उभय-पक्षीय बंटवारा काम्य नहीं है। इससे तो बेचारा मानव स्वयं त्रस्त हो उठा है। उसे व्यक्ति भी मानिए और समाज का अंग भी। इसी में उसका कल्याण निहित है। इस दृष्टि से राजनीतिक सत्ताएँ, शासन पद्धतियाँ और सामाजिक संगठन अपनी-अपनी शक्ति-साधना में चाहे कमजोर पड़ते जायें, पर उन्हें त्याग का मार्ग ही अपनाना होगा, अन्यथा प्रलयंकर अतियुद्ध ही संभाव्य है। देकर ही पाते हैं, पर लेकर सदैव खोते हैं। कदाचित् यह नीतिवाक्य भ्रांति ही समझा जाएगा, क्योंकि यह वस्तुवादी मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। न्यस्त स्वार्थों की यह लाचारी है कि वे इसे मान नहीं सकेंगे।

वस्तु, सामाजिक विषय-वस्तु और सामूहिक मनोभावना को ही साहित्यिक उपादान मान लिया गया है। साहित्य सामाजिक प्रगति में सहायक होता है। अतएव भौतिक विकास में उपादेय प्रमाणित होना ही साहित्य का प्रयोजन है। आनन्द उसका साध्य नहीं, साधन मात्र है। साहित्य इसी कारण उपयोगी कला है, जो सामाजिक विकास में योग देती है, बौद्धिक जागृति और सामूहिक भावना को पैदा करती है, वर्ग-संघर्षों को प्रतिबिंबित करती है तथा सामाजिक अर्थात् आर्थिक-राजनीतिक क्रांतियों अथवा कार्यक्रमों का अस्त्र बन जाती है। साहित्य का लक्ष्य सामूहिक हित और सामाजिक प्रगति ही है। पर यहाँ हित और प्रगति का एक ही रास्ता है, एक ही सुदूर कल्पना है, एक ही वर्ग-हीन

समाज-रचना की मंगलाशा है। अतएव प्रगतिवादी साहित्य मताग्रह-पूर्ण ही नहीं होता, अथवा वह श्रमजीवियों का हिमायती और पूंजीपतियों का विरोधी ही नहीं होता, वरन् प्रचारात्मक भी होता है। सूक्ष्म भाव-बोध के अभाव में और स्थूल आवश्यकताओं से उत्प्रेरित होने के कारण उसमें लालित्य तथा आर्जव की अपेक्षा ओज तथा कटुत्व अधिक होता है। वह अपने पक्ष का प्रचारात्मक समर्थन ही नहीं करता, बल्कि प्रतिपक्षी का विरोध भी करता है। फलतः उसके स्वर में तिक्तता होती है। व्यंग्य और परिहास ही नहीं, वह आघात और वस्तु-विपर्यय भी करता है। वह प्रहारात्मक कठोरता के साथ-साथ वस्तु सत्य को भिन्नार्थक और विपर्यस्त परिणति देने में सिद्ध-हस्त दिखाई पड़ता है। उदाहरण के रूप में चीनी आक्रांताओं के अनेकानेक वक्तव्यों की परीक्षा की जानी चाहिए। आशय स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य न केवल उपयोगी कला है, बल्कि उसका अस्तित्व ही प्रचारात्मक है। उसकी वाणी में जो विलक्षणता है, वह व्यंग्य-विनोद और प्रहार-विपर्यास, आदि के रूप में उद्घाटित होती है। उसका स्वरूप और शिल्प नव्य वस्तु अवश्य है, पर प्रयोजन विशेष के कारण उसमें बोधव्यता प्रधान है और गांभीर्य की प्रवृत्ति प्रायः न्यून। वह वक्तव्य अधिक है, अभिव्यक्ति कम।

: ५ :

मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन की मुख्यतः दो धाराएं उपलब्ध हैं। श्रेष्ठ साहित्य युग-जीवन के सामाजिक संघर्षों का यथार्थ चित्रण ही नहीं करता, वरन् वह परंपरा का विरोधी तथा प्रगति का समर्थक भी होता है। अपने सामाजिक जीवन को अन्य कोटि क्रम या विचार-धारा की रचनाएँ भी यथार्थतः चित्रित कर सकती हैं, पर मार्क्सवादी समीक्षा के अनुसार साहित्य का श्रेष्ठत्व आंतरिक गुणों की अपेक्षा उसके प्रगति-वादी दृष्टिकोण पर ही निर्भर करता है। प्राचीन कृतियां भी सामाजिक जीवन के ऐतिहासिक क्रम-विकास में अपने योग-दान के कारण ही मूल्यवती हैं। सामाजिक यथार्थ के चित्रण तथा समाज के ऐतिहासिक विकास में अपने प्रदेय के कारण ही कोई रचना श्रेष्ठ होती है। स्पष्टतः साहित्य अपने जीवन दर्शन, यथार्थवादी चित्रण तथा सामाजिक प्रगति के प्रयोजन के कारण श्रेष्ठ या हीन समझा जाता है। यह साहित्य-विवेचन की उपयोगितावादी स्थूल परिपाटी है, जिसमें अनुभूति की मार्मिकता, चित्रणों की कलात्मकता या रचना की रसात्मकता साहित्य-समीक्षा के मान नहीं माने गए हैं। यही नहीं, मानव-समाज की वे सहजात मनोवृत्तियाँ, जो आदियुग से आज तक अक्षुण्ण हैं तथा प्रेम-ममता, क्रोध-वैर, घृणा-करुणा, आदि इस साहित्य दर्शन में उपेक्षित हुई हैं। और भी यह कि हम केवल आर्थिक-सामाजिक जीवन ही नहीं जीते या हमारी युग-सत्ता मात्र ही नहीं होती, वरन् हम मानव-संस्कृति की विशाल परंपरा के भीतर भी सक्रिय होते हैं। युग-चेतना और सांस्कृतिक परंपरा, सामाजिक जीवन और चिरकालिक भाव-संवेदन, वर्तमान

और अतीत के उभय पक्षों की परिपूर्णता आदि को न देखकर हम मतवादी या सांप्रदायिक दृष्टिकोण को अपना लेते हैं। समझने की पद्धति होने से तथा प्रगतिपरक मंगलाशा स्थिर रखने के कारण यह दृष्टिकोण ही ज्ञात होता है, साहित्य का समग्र दर्शन नहीं। भौतिक प्रतिमानों पर मार्क्सवाद का वैचारिक सांचा चाहे अटूट जान पड़े, पर सांस्कृतिक और साहित्यिक तत्वों या आंतरिक गुणों के आधार पर यह एकांगी या पक्षविशेष से संवद्ध ही ज्ञात होता है।

इसकी यह सीमा है कि मानव मात्र के प्रति यह सदाशयी या सहानुभूति-पूर्ण नहीं है। वर्ग-विशेष के प्रति उत्तरदायी होने के कारण इसका मानववाद भी अधूरा है, जो सामाजिक जीवन में क्षोभ और घृणा भर सकता है। मैं समझता हूं कि यह शांति, व्यवस्था और प्रेम का मंत्र नहीं है। वर्गवादी करुणा पर यह आधारिक है, जो अन्य वर्गों के प्रति मानवीय धरातल पर भी सहृदयता का अनुभव नहीं करता। जिसका विनाश किया जाता है, उसके प्रति सहृदयता कैसी ? मानव के नैतिक विकास की दृष्टि से क्या यह हिंस्र प्रवृत्तियों का परोक्ष समर्थन नहीं कहा जायेगा ? और क्या इस विचार-धारा में मानवता की अखंडता और समग्रता के स्थान पर युग-सत्य का तात्कालिक तत्व ही प्रतिष्ठित नहीं है ?

इसकी दूसरी परिणति है समाज-शास्त्रीय समीक्षा प्रणाली, जो फ्रांसीसी समीक्षक एच. ए. टेन से आरंभ होती है। उसने 'सौंदर्यात्मक सापेक्षता' का सिद्धांत उपस्थित किया था, जिसके अनुसार युग-परिवृत्ति, आदि सामाजिक या जातीय आधारों पर ही साहित्य की जांच-पड़ताल की जानी चाहिए। उसने ऐतिहासिक समीक्षा का आधार प्रस्तुत किया जिसमें तुलना तथा मूल्यांकन के तत्व उपेक्षित हुए। देश काल और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ही जब साहित्य के तत्व बन गई, तब रचना का अस्तित्व केवल युग-विशेष के अंतर्गत सीमित समझा गया। ह्रासयुग की प्रत्येक कलाकृति ह्रासशील मानी गई और वर्गीय स्थिति के आधार पर रचनाकार अपने वर्ग का प्रतिनिधि सिद्ध हुआ। इसे 'कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण' कहा जाता रहा है। मार्क्सवादियों ने इस समीक्षा-दृष्टि की यह सीमा बताई है कि ह्रासयुग में भी प्रगति की शक्तियाँ सक्रिय होती हैं तथा रचनाकार वर्ग-चेतना से ही अनुशासित नहीं रहता। यथार्थ-बोध के कारण वह समाज के द्वन्द्वात्मक अवस्थान से भी प्रेरित-प्रभावित हो सकता है।

मार्क्सवादी दृष्टि से जिस समाज-शास्त्रीय समीक्षा-प्रणाली को अंगीकृत किया गया है, उसका आधार यह है कि सामाजिक यथार्थ साहित्यिक रचना-कार्य का कारण होता है। कोई भी रचना अपने युग के सामाजिक यथार्थ को किस रूप और कितने परिमाण में उपस्थित करती है, वह उसके प्रति किस सीमा तक प्रामाणिक है तथा वह प्रगतिशील शक्तियों का किन अंशों में और किस प्रकार समर्थन, प्रतिपादान या प्रतिनिधित्व करती है ? इन प्रश्नों का आशय यह है कि सामाजिक यथार्थ का चित्रण और सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव, इन्हीं दो मानों पर समाजशास्त्रीय समीक्षा आधारित है।

साहित्य को उसी युग, स्थान और परिस्थिति के सामाजिक यथार्थ का अनिवार्य प्रतिफलन मान लेने पर दोनों का कार्य-कारण संबंध ही स्पष्ट नहीं होता, बल्कि रचनाकार पर भी यथार्थ-बोध का आरोप कर दिया जाता है। उसकी रुचि, विवेक और रचना-प्रक्रिया की यहां नितांत अवहेलना कर दी गई है। साहित्य सामयिक जीवन का परिणाम है और उसे बदलने या प्रगतिशील बनाने का साधन भी। यह समीक्षा-पद्धति रचना विशेष के सामाजिक परिवेश तथा सांस्कृतिक पीठिका का भली-भांति उद्घाटन करती है। इसे वस्तु-मूलक तटस्थता के कारण प्रायः स्वीकार कर लिया गया है। पर मुख्यतः वैज्ञानिक परिपाटी के रूप में ही इसे अपनाया गया है, जिसका मतवाद से कोई सुनिश्चित संबंध नहीं है। यह साहित्य को सम्यक् रूपेण समझने में मूल्यवान सिद्ध हुई है। यह रचनाकार के प्रत्यक्ष परिवेश और उसके रचना-कार्य की तुलना में प्रवृत्त होकर साहित्यिक विश्लेषण में अंशतः सहायक होती है। हिन्दी की नवीन समीक्षा-धारा में प्रायः इसे इसी सीमा तक अंतर्भुक्त किया गया है। इसकी सीमा है सांप्रदायिक जीवन-दृष्टि, जो साहित्यिक प्रतिमानों पर हावी हो जाती है। समाजशास्त्र की अभिज्ञता एक गुण मात्र है, पर समीक्षक की कला-चेतना उसके समग्र कार्य का मूलाधार। कभी हम जीवन को संपूर्ण रूप में न देखकर वर्गीय प्रवृत्तियों या अपने मतवाद के आधार पर ही संकीर्ण सीमाओं में ग्रहण कर सकते हैं अथवा कभी सामाजिक यथार्थ की ही छानबीन में व्यस्त होकर कला के आंतरिक तत्वों की उपेक्षा कर सकते हैं। सर्वोपरि सीमा यह भी है वर्ग-चेतना सामाजिक यथार्थ को व्यस्त स्वार्थ की दृष्टि से ही देख-परख सकती है और यह तथ्य-मूलकता मानव-अस्तित्व का संपूर्ण सांस्कृतिक सत्य या अंतर्भूत तत्व कदाचित् नहीं है।

: ६ :

प्रगतिवाद के साहित्य-दर्शन तथा उसकी समीक्षा प्रणाली का यहां विवरण प्रस्तुत किया गया है। विचारकों ने इसकी सीमा का निर्देश करते हुए अर्थ-व्यवस्था की सर्वोपरि धारणा तथा वर्ग-चेतना, प्रचार-प्रवृत्ति, आदि की एकांगिता को स्पष्ट किया है। यह भी कहा गया है कि साधारणीकरण और समूह भाव में प्रकृत्या अंतर है। एक सामान्य या निर्विशेष मनस्थिति है, दूसरी स्वार्थ-निष्ठ प्रवृत्ति। एक सर्वचेता है, दूसरी वर्ग-चेता, एक आनन्द-प्रद है, दूसरी क्षोभ की उत्पादक। इस धारा की ये सीमाएँ भी निर्दिष्ट हुई हैं कि यहां जीवन को संपूर्ण और वास्तविक रूप में ग्रहण नहीं किया जाता; साहित्यिक और ऐतिहासिक परंपराओं का सम्यक् आकलन नहीं होता; राष्ट्रवादी धारणा निर्बल हो जाती है या उसे आक्रामक परिणति प्राप्त होती है; भावनात्मक अथवा सौंदर्य-प्राण रचना-प्रवृत्तियां प्रशमित की जाती हैं; कलात्मक परिष्करण की अनुचित उपेक्षा होती है; मानव को परिस्थितियों का निर्माण मान लेने से उसकी सत्ता और महत्ता की उपेक्षा ही संभव है; तथा उसके मनोविश्लेषण और आंतरिक विशेषताओं के समुचित विकास पर ध्यान नहीं दिया जाता। यह मतवाद सांप्रदायिक कट्टरता और अपनी विशिष्ट कार्य-प्रद्धति के कारण प्रायः संकीर्ण समझा गया है। आघात-कारी और छिद्रान्वेषी रचना शैली

को अपनाने के कारण इस पर अश्लीलता, अनैतिकता, कुत्सा-प्रचार, आदि सामाजिक
नैतिकता के आरोप लगाये गये हैं, जो साहित्यिक मानों पर केवल अनौचित्य या भावाभास
की सीमा में गृहीत हो सकते हैं।

इस धारा के प्रदेय का उल्लेख किया जाना अभी शेष है। हमारे यहाँ सांप्रदायिक
अर्थ में इसे 'वाद' की सीमा में गृहीत किया गया, पर सामाजिक विकास के सामान्य संदर्भ में
यह प्रगतिशील धारा के रूप में स्मरण किया जाता रहा। राजनीतिक मत-वाद से नियंत्रित
लेखकों के कारण इसे प्रगति के वाद की संज्ञा प्राप्त हुई, पर स्वतंत्र-चेता रचनाकार
प्रगति का शीलत्व ही स्वीकार कर सके। इसकी सर्व प्रधान उपलब्धि यह दिखाई पड़ी कि
जीवन के यथार्थ के प्रति हम जागरूक हुए और अंतर्जगत् के स्थान पर बहिर्जगत् को
देखने-परखने लगे। हमारे साहित्यकारों ने सामाजिक यथार्थ की बोधव्यता का विकास
किया। कल्पनाशील और वैयक्तिक प्रवृत्तियों के स्थान पर वस्तु-निष्ठ और सामाजिक
प्रवृत्तियाँ साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय दिखाई पड़ीं। गत दो दशकों के साहित्य में युग-बोध
और यथार्थ-चेतना का व्यापक प्रसार हुआ। इसे स्वस्थ विचारणा और प्रतिक्रियावादी
धारणा के खेमों में विभक्त किया गया है, जिसका जो भी राजनीतिक, आर्थिक या सामा-
जिक पक्ष हो, पर यह निस्संदेह साहित्यिक विभाजन नहीं है। हमारे यहाँ असाम्प्रदायिक
समाजवाद की साहित्यिक प्रतिष्ठा ही सामान्यतः हो पाई है। यह राष्ट्रवादी समाजवाद,
स्वच्छन्दतावादी समाजवाद, मानववादी जनवाद या समाजवादी यथार्थवाद, जैसे विविध
रूपों या प्रकारों में गृहीत हुआ है। कट्टर वर्गवाद या हठवादी समाजवाद इने-गिने लेखकों
की कृतियों में ही प्रत्यक्ष हो पाया है। हमने प्रायः इस धारा को स्वतंत्र रूप से ही अप-
नाया है। जहाँ-तहाँ आत्मवाद और पदार्थवाद को समन्वित करने के छुट-पुट प्रयत्न भी
हुए हैं।

रचना के क्षेत्र में नए-नए सामाजिक विषयों को ग्रहण किया गया है। कृषक
और श्रमिक वर्ग को नई साहित्यिक अर्थवत्ता प्राप्त हुई है। पूंजीवादी और शासनाधि-
कारी वर्ग के प्रति सक्रिय विरोध का भाव विद्वेषभरी और आग्रहमयी अभिव्यक्तियाँ
करता रहा है। उपेक्षा वृत्ति के स्थान पर विरोध और समर्थन के स्वर मुखर हो उठे
हैं। परिवर्तन की पुकार बलवती बनी है और मुखियों, महंतों, सामंतों और पूंजीपतियों
के विनाश की कामना की गई है। धर्म, अर्थ और राजनीति के विविध सामाजिक
क्षेत्रों में इसका स्पष्ट प्रसार हुआ है। अत्याचारों का विशद् चित्रण किया है तथा मर्म-
स्पर्शी संकेतों का विधान हुआ है। सामाजिक असंगतियों, वैचारिक अंतर्विरोधों और
शासन की विशृंखलताओं पर खुलकर प्रहार किए गए हैं। गावों, गरीबों और नारियों
के विषमता-भरे चित्रणों में आत्यंतिक यथार्थ-दृष्टि का विनियोग हुआ है। ये चित्रण
प्रायः करुणोत्पादक हैं और कहीं-कहीं विशेषतः नारी-विषयक चित्र आसक्तिभरे या
सुरुचि-रहित भी हैं। प्रगतिवादी धारा ने प्रत्यक्ष जीवन का व्यापक विषय-क्षेत्र अपनाया है,
जिसके कारण वैचारिक विभेद न होते हुए भी रचनाओं में विषयों का वैविध्य प्रकट हुआ
है। प्रेम का विकृत रूप, उत्साह का आवेग और करुणा की मार्मिकता यहाँ मुख्यतः अभि-

व्यक्त हुई है। इसमें परिवर्तन की लक्ष्यनिष्ठता, जीवन की आस्था, समस्त प्रतिक्रिया-मूलक तत्वों के प्रति क्षोभ-भरा विद्रोह और परिस्थितियों तथा कार्य-व्यापारों को उनके वास्तविक रूप में देखने की चेष्टा प्रत्यक्ष हुई है। साहित्यिक रचना-कार्य में एकदेशीयता का परित्याग, वर्ग-भावना का उन्मेष, समसामयिक परिस्थितियों का प्रभाव, बुद्धिवाद का प्रसार तथा व्यंग्य, विनोद और आघात का शैली विधान हुआ है। कलात्मक प्रसाधन की अनावश्यकता अवश्य समझी गई और काव्य-रचना तथा अखबार-नवीसी समकक्ष हो चली। सरल और सीधी अभिधा-विशिष्ट शैली प्रायः अपनाई गई, पर उपमानों के चयन में यह सतर्कता बरती गई कि वे प्रभावपूर्ण हों। व्यंग्य, विपर्यय और प्रहार-मखौल की नई-नई शैलियाँ आविष्कृत हुई। सामान्य जीवन तथा ग्रामीण वातावरण की व्यवहृत भाषा या अभिव्यक्ति-भंगिमाएँ समादृत की गई। प्रचार-प्रवृत्ति का रचना-कार्य होने के कारण यहाँ तर्क-प्रतिपादन, उपदेश-कथन, वृत्त-वर्णन, आदि से संबद्ध रचना-प्रणालियाँ प्रयुक्त हुईं, जिनके द्वारा उद्बोधन या व्यंग्य, तर्क या विचार अथवा वस्तु या विषय के विवरणों को प्रभावपूर्ण बनाने का आयास हुआ। इन रचनाओं में समय का तकाजा और अवसर का महत्व भलीभाँति समझा गया है। यह काम की प्रेरणा और गति का संदेश देनेवाला साहित्य है। इसकी जमीन ठोस है, चेतना समय-सापेक्ष है और दायित्व-बोध अभिनव है। यह प्रायः सामूहिक भाव-संवेगों का प्रतिश्रुत साहित्य है।

संक्षेप में, प्रगतिवाद की मान्यता है कि साहित्य सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति है और उसका मूल्यांकन भी समाजशास्त्रीय तथा मार्क्सीय प्रतिमानों पर होना चाहिए। वह अपनी ही नहीं अन्यान्य साहित्य-सृष्टियों की समीक्षा भी अपने मानदंडों से करता है। इसने जीवन के प्रति भावनात्मक और कल्पनाशील दृष्टिकोण को छोड़कर वस्तुमूलक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया है। जीवन के विशेषत्व की निष्ठा के स्थान पर सामान्यत्व की प्रतिष्ठा संभव हुई है। वैयक्तिकता के स्थान पर समूह-भावना और सामाजिक हित या प्रगति को समस्त रचना-कार्य का आधार समझा गया है। युग-चेतना का आग्रह विश्व-व्यापी घटनाओं और सामयिक परिस्थितियों के प्रति जागरूकता उत्पन्न कर सका है। मतवादी और वर्गभावना से ग्रस्त रचना-व्यापार होते हुए भी इस धारा में अदम्य उत्साह, व्यापक करुणा और अक्षम्य क्षोभ के मनोभावों का व्यापक प्रसार हुआ है। मानव को एकांगी दृष्टि से देखने के कारण प्रगतिवादी साहित्य ने बद्धमूल धारणाओं, स्थायी संस्कारों और असंगत रीति-नीति तथा आचार-व्यवहार पर कस-कस कर प्रहार किए हैं। इसका जीवन-दर्शन नया है और रचना पद्धति भी नवीन है। अतएव साहित्यिक रूपों, अभिव्यक्ति भंगिमाओं, भाषा-शैलियों, अलंकरण-पद्धतियों तथा लय और प्रवाह के गति बंदों में नए-नए परिवर्तन होते रहे हैं। आशय यह है कि प्रगतिवाद का विशिष्ट दर्शन है और वह सामान्य जीवन का मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धांत है।